आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली

का

आपसी टकराव

(भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध होनेके सन्दर्भमें)

गोस्वामी श्याम मनोहर

‘भगवत्सेवा–शरणागतिमें प्रतिबन्ध’ विचारगोष्ठीके हेतु आलेखप्रस्तुतिकार :
गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक :
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बजार, मांडवी, कच्छ, गुजरात–३७० ४६५.

प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोगदाता :
गोस्वामी श्रीयोगेशकुमार (गोकुल–मुंबइ),
श्रीमिलन कांटावाला (अहमदाबाद),
श्रीमती हंसाबेन सु.परीख (अहमदाबाद),
श्रीजनक आर. शाह (अहमदाबाद),
श्रीपंकजभाई जंबुसरिया (मुंबइ).

प्रकाशनवर्ष : **वि.सं.२०६३.**

निःशुकल्कवितरणार्थ

मुद्रक :

प्रासङ्गिक

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा विगत कई वर्षोंसे वाल्लभ सम्प्रदायके धार्मिक दार्शनिक आचार आदिसे जुड़े विभिन्न मुद्दोंपर जैसे कि वैष्णववार्ता, अधिकार, साधनाप्रणाली, शरणागति, गुणगान, भगवत्सेवा विषयोंपर साम्प्रदायिक स्तरपर विचारगोष्ठीका आयोजन होता आ रहा है. साधनाविषयक विचार के बाद क्रमकी दृष्टिसे फलसम्बन्धी विचार प्रासङ्गिक होना चाहिए था. परन्तु किसी भी प्रकारके प्रतिबन्ध – विघ्न बिना सीधे फलके मिल जानेपर फलका सच्चा आस्वाद कैसे मिल सकता है! अतः फलविषयक विचारगोष्ठीका आयोजन करनेसे पूर्व ''पुष्टिभक्ति और पुष्टिप्रपत्ति साधनामें प्रतिबन्ध'' विषयपर गत सितम्बर २००६ में एक विचारगोष्ठीका आयोजन किया गया.

प्रस्तुत पुस्तकमें गुजराती–अनुवादके साथ मूलमें हिन्दीमें आलेखित ''आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधना का आपसी टकराव (भगवत्सेवामें प्रतिबन्धक होनेके सन्दर्भमें)'' निबन्धको पू.गो.श्रीश्याममनोहरजी (पार्ला–किशनगढ) ने उक्त विचारगोष्ठीमें प्रस्तुत किया था.

पूज्यश्रीने अपने आलेखपत्रमें गुरुघरोमें हुए भगवत्सेवाके बारेमें कभी शिष्यसमुदायके साथ, कभी कौटुम्बिक जनोंमें परस्पर, तो कभी राज्यप्रशासन के साथ न्यायालयोंमें छिड़े विवादोंके इतिहासका, इन विवादोंके कारण सम्प्रदायको पहुंची अपूरणीय हानि, उसके कारणोका इसी तरह उनके निवारणके उपायोंका निरूपण किया है.

आपश्रीके आलेखपत्रमें किये गये निरूपणका इसी तरह सम्प्रदायके इतिहासका समग्रताके साथ विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त विवादोंके छिड़नेका और उनके घातक परिणाम आनेके पीछे मूल कारण थे : साम्प्रदायिक सिद्धान्त और भावना के बारेमें प्रवर्तमान अज्ञान, अन्यथाज्ञान, संशय, अश्रद्धा और निष्ठाहीनता. अतएव इस समस्याका समाधान भी स्वमार्गीय सिद्धान्त और भावना विषयक शुद्ध ज्ञानकी प्राप्तिमें और स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके प्रति अनन्यनिष्ठा जागृत करनेमें ही रहा हुवा है.

इस आलेखपत्रके हिन्दी–गुजराती स्वरूपके साथ ही साथ सिद्धान्तवचनावली तथा अमृतवचनावली भी आधारभूत सामग्रीके सन्दभित की गयी होनेसे उन्हें भी यहां थोड़े–बहोत हैरफैर के साथ पुनःप्रकाशित की जा रही हैं. अन्य भी कुछ उद्बोधक परिशिष्टोंके साथ. इस अवश्य विचारणीय निबन्धके निःशुल्क वितरणार्थ आर्थिक सहयोग प्रदान करनेवाले सभी इष्टजनोंके प्रति कृतज्ञताज्ञापन के साथ...

शरद् गोस्वामी (मांडवी–कच्छ)

आमुख

पुष्टिसम्प्रदायमें जन्म लेनेके कारण जन्मजात पुष्टिमार्गी; अथवा बाहर कहींसे आ कर पुष्टिमार्गमें दीक्षित होनेवाले नवागन्तुक, हम सभी पुष्टिमार्गानुगामिओंको एक आदर्श अपनी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होने देना चाहिये. वह यह आदर्श है कि अपने पुष्टिमार्गीय जीवनसे हम जो कुछ अपेक्षा रखते हों उन अपेक्षाओंसे कहीं अधिक श्रेयस्कारिणी अपेक्षा यह है कि इस भूतलपर हमारा पुष्टिमार्गीय जीवन हम पुष्टिजीवोंसे क्या अपेक्षा रखता है ? इसपर सावधानीके साथ कुछ उदात्त चिन्तन और तदनुसार अपनी संकल्पशक्ति को गम्भीरताके साथ प्रबल बनानेकी है.

हर्षका विषय है कि इस दिशामें श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट कच्छ-मांडवी स्वमार्गीय धर्मसिद्धान्तोंपर साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी तथा दर्शनसिद्धान्तोंपर स्वसम्प्रदायेतर विद्वानोंकी भी विचारगोष्ठिओंका नितान्त अभिनन्दनीय समायोजन इधर कुछ वर्षोंसे निरन्तर करता आ रहा है. मुझे यह कहनेमें तनिक भी संकोच अनुभूत नहीं होता कि अपने सम्प्रदायमें आज चाहे इसका महत्त्व किसीके गले उतरे या न उतरे भविष्यमें इन विचारगोष्ठिओंके आयोजनोंमें हुवे चिन्तनकी महत्ता पुष्टिचिन्तनकी यात्राके इतिहासमें क्रोशस्तम्भके रूपमें मान्य होंगी ही.

स्वमार्गीय ग्रन्थोंका निरन्तर अभ्यास करते रहनेके बावजूद इन विचारगोष्ठिओंके कारण कितनी सारी स्वमार्गीय धारणायें स्वयं मुझे अपने वैचारिक और भावात्मक चिन्तनको सुस्पष्टतया देख-समझ पानेमें कितनी अधिक सहायिका बनी हैं ! अतः आरम्भमें इनमें सम्मिलित होनेमें अपनी झिझक बावजूद आज मुझे अपनी ऐसी स्वीकृति प्रकट करनेमें लेशमात्र संकोच अनुभूत नहीं होता.

जैसे किसी गीतकी स्वरावलीको बहुधा सुनते रहनेके कारण, जान लेनेके बावजूद, जब तक स्वयं अपने कण्ठसे उसे प्रकट न किया जाय तब तक स्वरसंयोजनाका सूक्ष्मसौन्दर्य अवगत नहीं हो पाता. अथवा जैसे किसी रम्य उद्यानके चित्रको निहार लेनेके बावजूद उसकी सुरम्यता उस उद्यानमें विहरण किये बिना हृद्गत नहीं हो पाती. ऐसे ही स्वमार्गीय धर्म-दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी गम्भीरताका भी जब तक निश्छल बोधमात्रके प्रयोजनवश शान्त चित्तसे सबके साथ मिलजुल कर आपसमें हम आकलन नहीं करते, तब तक अपनी सूक्ष्मता वे हमारी बुद्धि और हृदय के सामने झलकाते नहीं है !

वर्तमान अवस्था पुष्टिभक्तिसम्प्रदायकी इतनी शोचनीय बन गयी है कि अपनी धर्माचार्यकी पदवीसे जुड़ी सारी शालीनता और गरिमा को भूल कर स्वयं महाप्रभुके वंशज खुले आम ऐसा कहनेमें भी लेशमात्र लज्जाका अनुभव नहीं करते कि-

> जब हमने अपने सेव्य प्रभुके सम्मुख अपने मार्गके अनुगामिओंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करते हैं उसके अन्तर्गत 'वित्त' पदके प्रयोगके कारण दीक्षार्थी वैष्णवने अपना वित्त हमारे सेव्य प्रभुको समर्पित कर ही दिया है. ऐसी स्थितिमें हमारे सेव्य प्रभुकी सेवामें वैष्णव जनताके वित्तका विनियोग दोषावह अपसिद्धान्त कैसे हो सकता है ?

अपनी अर्थलोलुपताके कारण प्रकट हुए देवलकताके इस नग्नताण्डवको संयत किया जाये तो सहज ही यह समझमें आ सकता है कि दीक्षार्थ गद्यमन्त्रमें दीक्षार्थीके देहादि घरबार तथा परिवार सभीका भगवत्समर्पण प्रतिज्ञात है. ऐसी स्थितिमें भगवत्सेवामें केवल वित्तके ही विनियोगकी इतनी आसुरी लालसा क्यों ? क्यों दीक्षितके व्यक्तिके घरमें अपने सेव्य प्रभुको पधारा कर उसके परिवारजनोंको सेवा सोंप नहीं दी जाती ! क्यों पगारदार नोकरोंसे अपने ही घरोंमें सेवाका व्यवसाय चलाया जानेका मोह पाला जा रहा है ? यदि विशेष भगवन्मूर्तिके ही अर्थमें समर्पण अभिप्रेत हो तो साक्षात् उस भगवन्मूर्तिके सम्मुख जिसे दीक्षा न दी गयी हो, कमसे कम ऐसे दर्शनार्थीके धनको तो अपनी भगवत्सेवामें विनियोग करनेकी लालसापर तो अंकुश पाना चाहिये था ! यह सब स्वसिद्धान्तगौरव, स्वसेव्यप्रभुके गौरव, धनलोलुपतारहित पुष्टिभक्तिके गौरव; और अन्ततः आचार्यवंशज होनेके आत्मगौरव के अक्षम्य ह्रासका दुष्परिणाम है !

हालमें ही श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा 'भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध' विषयपर आयोजित विचारगोष्ठीमें यह आलेखपत्र मैंने पढा था. समयाभाववश उस विचारगोष्ठीमें

इसपर अपेक्षित चर्चा-विचारणा हो नहीं पायी. इस विषयपर सभी हम पुष्टिमार्गिओंको कभी न कभी तो गम्भीरताके साथ विचार तो करना ही पड़ेगा. अतः विचारगोष्ठीका सारा विवरण प्रकट होनेसे पूर्व भी इसे प्रकाशनार्थ अनुमति प्रदान करनेके हेतु उक्त न्यासके प्रति अपनी कृतज्ञताज्ञापनके साथ...

दीपावली वि.सं.२०६३ **गोस्वामी श्याम मनोहर**
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रस्ता, जुहुस्कीम,
पार्ले मुंबइ.

विषयसूचि

१.आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली का आपसी टकराव

१.औपक्रमिक परिभाषा १
२.विचार्यविषयके आधारभूत प्रमाणोंकी परिधि १
३.विचार्यविषयकी परिधि २
४.प्रसंगोपात्त स्पष्टीकरण ३
५.पुष्टिमार्गीय इतिहासके कालखण्ड ७
६.ऐतिहासिक तथा साम्प्रतिक टकरावोंका तुलनात्मक रूप ८
७.वर्तमान-टकरावके निवारणका उपाय ३७
८.सन्दर्भसूची ३८

३.सिद्धान्तवचनावली ५१
४.अमृतवचनावली (परिशिष्ट.२) ९१
५.पुष्टि अस्मिता ११२
६.पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाका संक्षिप्त वृत्त ११४

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली
का
आपसी टकराव

(भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध होनेके सन्दर्भमें)

गोस्वामी श्याम मनोहर

१.औपक्रमिक परिभाषा :

'आधुनिक न्यायप्रणाली' पदका प्रयोग भारतवर्षके अंग्रेज़ोंके उपनिवेश बननेके बाद जो लिखित न्यायप्रणाली अंग्रेज़ोंद्वारा साक्षात् प्रशासित प्रदेशोंमें लागू की गयी तथा उनसे प्रभावित देशी राज्योंमें भी जो शनैः-शनैः प्रस्तुत हुयी; और, स्वाधीनता मिलनेके बाद राष्ट्रके गणतन्त्र घोषित होनेपर जो संविधान देशमें मान्य हुवा उससे जो न्यायप्रणाली प्रस्थापित हुयी, उस अर्थमें विवक्षित है. इसी तरह 'पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली'पदका प्रयोग महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणद्वारा कण्ठतः उपदिष्ट और उनके उपदेशोंपर परवर्ती व्याख्याकारोंद्वारा लिखी गयी विवेचनाओंमें प्रकट होती भगवत्सेवाकी प्रणालीका जो स्वरूप प्रकट हुवा है उस अर्थमें विवक्षित है.

२.विचार्यविषयके आधारभूत प्रमाणोंकी परिधि :

यह तो स्वाभाविक ही है कि चाहे राजकीय न्यायप्रणाली हो या धार्मिक साधनाप्रणाली कोई भी अपने मूल प्रवर्तनाके वचनोंमें बंध कर सदा रह नहीं पाती. क्योंकि परवर्ती विवेचनाकारोंकी अपनी समझ, परम्परामें उसके अनुसरणमें आती सुविधा/असुविधा; तथा अन्तमें तत्तद् देश-कालकी अनुकूलता/प्रतिकूलता ये ऐसे तथ्य हैं, जो किसी भी न्याय या धर्म की प्रवर्तमान या जीवित प्रणालीके स्वरूपको घड़नेमें महत्त्वपूर्ण घटक बन जाते हैं. अतः इन्हें भी निकष तो मानना पड़ता है. फिरभी न्यायप्रणाली हो या धर्मप्रणाली या अन्यभी जीवित प्रणालियोंका उनके मूल स्वरूप एवं प्रयोजन के अनुरूप स्वस्थरूपेण विकसित होना एक सम्भावना है. ऐसे ही दूसरी सम्भावना उसके विकृत हो जानेकी भी उतनी ही सहज होती है.

अतएव प्रस्तुत पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीकी विवेचनामें देश-कालकी विषम परिस्थितिके वश प्रकट हुए विकृत स्वरूपको आदर्श माननेके बजाय ग्रन्थोपदिष्ट स्वरूपको ही हम प्रामाणिक मान कर यहां विमर्शार्थ प्रवृत्त होना चाहेंगे. क्योंकि उपदिष्ट सिद्धान्तके बारेमें सावधानीके साथ जो छूटछाट परम्परामें ली गयी हों अथवा देश-कालवश पनपी अनचाही विकृतियां जो परम्परामें जुड़ गयी हों, उन्हें कभी न कभी तो अपने मूलरूपमें स्वस्थ बनानेका नैतिक उत्तरदायित्व अनुगामिओंका होता ही है. यह यदि अभीष्ट न हो तो उन्हें मूल स्रोतसे जोड़ना या उनके साथ मूल स्रोतका नाम जोड़ना अनीतिपूर्ण कृत्य बन जाता है. वह यदि जगतवंचना नहीं तो उससे भी गर्हित आत्मवंचना ही होती है. अतः पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका ग्रन्थोपदिष्ट स्वरूप ही इस आलेखनकी वह प्रामाण्यपरिधि है जिसके भीतर रह कर ही जो कुछ प्रस्तुत करना है सो करना है.

३.विचार्यविषयकी परिधि :

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली के महावृत्तोंके अन्तर्भूत कतिपय परिगणित लघुवृत्त ही यहां विचारणार्थ अभिलषित हैं. क्योंकि अन्य भी अनेक लघुवृत्तोंकी विवेचना इस अल्पपरिमाणके आलेखनमें न शक्य है और न अभीष्ट ही.

एतदर्थ अनपेक्षित विस्तारसे बचनेके लिये 'सिद्धान्तवचनावली' नामक पुस्तिकामें से ही वचन उद्धृत करना चाहूंगा. यह वचनावली सन् १९९२के जनवरी मासकी तारीख १०से १३तक चार दिनों तक विश्वकर्माबाग (पार्ले-मुंबइ) में पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारणार्थ प्रस्तुत की गयी थी. इसमेंसे भी केवल चार मुद्दोंको ही उपलक्षणविधिसे यहां उपस्थापित करना चाहूंगा : [१]सेवास्थल [२]सेव्यस्वरूप [३]सेवाधिकारी सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक [४]सेवास्वरूप. क्योंकि इस सेवास्वरूप मुद्देके भीतर अन्य चार मुद्दे यथा : [क]सेवोपदेशदीक्षा [ख]सेवाप्रदर्शन [ग]सेवाप्रयोजन

तथा [घ]सेवार्थ-आजीविका का भी स्वारसिक अन्तर्भाव सिद्ध है ही. तदर्थ यथापेक्षा उद्धरणसन्दर्भ भी प्रायः उस सिद्धान्तवचनावलीसे प्रस्तुत किये जायेंगे. अस्तु.

४.प्रसंगोपात्त स्पष्टीकरण :

इस वचनावलीमें इन विषयोंके बारेमें विचारणीय मूलवचनोंका संकलन और भावानुवाद भी तभी प्रस्तुत किया गया था. तबसे आज तक सैद्धान्तिक दृष्टिसे कोई भी गम्भीर त्रुटि या अर्थान्तर इनमें कोई भी दिखला नहीं पाया. कुछ बचकानी छीछालेदर अवश्य प्रकाशित हुयी थी. अन्य कुछ आलोचकोंद्वारा भूतकालमें स्वयंघोषित विधानोंके वदतोव्याघात करनेवाली आलोचना भी प्रकाशित की गयी. परन्तु उनकी पूर्वस्वीकृतिको प्रामाणिक मानना या आत्मस्वीकृतिके खण्डनको प्रामाणिक मानना यह सवाल उठाये जानेपर *सर्वार्थसाधकं मौनं*! ही प्रत्युत्तर मिला!

अतः अगतिकतया मूलवचनोंके आधारपर यह निश्चित हो जाता है कि पुष्टिसम्प्रदायमें ह्न

[१]भगवत्सेवार्थ अपेक्षित स्थल सेवाकर्ताका अपना निजी घर होता है, सार्वजनिक देवालय नहीं.

[२]सेव्यस्वरूप भी सेवाकर्ता और उसके परिवार द्वारा की जाती भगवत्सेवाके हेतु स्वार्थ-प्रतिष्ठापित होता है, परार्थ नहीं. अर्थात् पुष्टिमार्गानुगामी जनसाधारणकी धार्मिक साधना या धार्मिक हित के हेतु प्रतिष्ठापित नहीं.

अतएव ऐसे निजगृहमें बिराजमान निजी आराध्य स्वरूपके भजनार्थ अधिकार भी [३]सेवाकर्ता, और उसकी अनुमतिके आधारपर, उसके पारिवारिक या इष्ट जनोंका ही होता है, पुष्टिमार्गमें दीक्षित हर किसी वैष्णव या जनसाधारण का नहीं.

तदनुसार [४]भगवत्सेवाका स्वरूप भी निजी ही होता है सार्वजनिक नहीं.

और अतएव [क]ब्रह्मसम्बन्ध या आत्मनिवेदन की साम्प्रदायिकी दीक्षा भी स्वयं तथा स्वयंके पारिवारिक जनोंके भगवत्सेवाके अधिकारार्थ ली जाती है, पुष्टिसम्प्रदायमें प्रवेशार्थ अथवा साम्प्रदायिक सार्वजनिक देवालयोंमें दर्शनार्थ, अन्य किसी द्वारा की जाती भगवत्सेवाके हेतु धनप्रदानार्थ अथवा भगवत्प्रसादग्रहणार्थ नहीं.

परिणामतया [ख]पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें दर्शनार्थ सम्मिलित होनेका कर्तव्य या अधिकार भी निजी ही होता है, सार्वजनिक नहीं.

यही तथ्य पुष्टिमार्गमें की जाती भगवत्सेवाके [ग]प्रयोजनके बारेमे कहा जा सकता है : सेवाका प्रयोजन भक्तिरूपा या भक्तिवृद्ध्यर्थ की जाती सेवाद्वारा स्वयं-निवेदित अहन्ता-ममतास्पद पदार्थोंका अपने घरमें बिराजते भगवत्स्वरूपके हेतु विनियोजन होता है. जनकल्याण या जनप्रशिक्षण आदि नहीं.

अन्तमें निष्कर्षतया पुष्टिमार्गमें [घ]भगवत्सेवा सेव्यस्वरूपकी आराधना, अर्थात् प्रसन्नता, के लिये होती है नकि सेवाकर्ता या उसके परिवार की आजीविकाके उपार्जनार्थ.

(द्रष्ट.सिद्धा.वच.१-८ तथा पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाका संक्षिप्त विवरण पृ.५-३८)

सिद्धान्ततः तो यह सिद्ध हो जानेपर भी एक नग्न सत्य यह औरहै कि ऊपर दिखलायी गयी प्रणालीसे सर्वथा विपरीत ही पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाका विकृत प्रकार वर्तमान कालमें चल रहा है. अपनी आजीविकाके उपार्जनार्थ आत्मविश्वास खो बैठे हम धर्मोपदेशकोंकी क्षुद्र धनलालसाके कारण जनताको भी भगवत्सेवाकी विकृत प्रणालीको ही अनुसरनेको आज लुभाया या बहका दिया गया है. ऐसे बहकानेवाले ग्रन्थोपदिष्ट सिद्धान्तोंको गौण दिखला कर परम्पराकी दुहाई देते हैं. परन्तु परम्पराके संवाहक उन पूर्वजोंके वचन भी, अतएव, उस सिद्धान्तवचनावलीके परिशिष्टमें 'अमृतवचनावली' शीर्षकके नीचे संकलित किये गये थे. ताकि पुष्टिमार्गकी सच्ची मान्यतासे परम्पराकी दुहाई कितनी विपरीत है, यह स्वयं देखा जा सके.

एतावता यदि कोई ऐसे कहे कि सिद्धान्तदृष्टि चाहे जो कुछ रही हो, व्यवहारमें उसका अनुसरण नहीं किया गया होनेसे, उसकी प्रभाविता निःशेष हो गयी, तो यह विधान असंगत है. क्योंकि समाजमें चोरी–डाका–हत्या आदि अपराध भी सभी युगोंसे चलते ही आ रहे हैं, एतावता उन्हें अपराध न मान सामाजिक अनुमति नहीं माना जा सकता. इसी तरह सिद्धान्तवचनावली और अमृतवचनावली से विपरीत पुष्टिमार्गीय धर्मोपदेशकोंके तथा धर्मानुयायियोंके आचरणोंको अपराधरूप ही मानना चाहिये, साम्प्रदायिक अनुमति नहीं.

अन्यथा सभी वल्लभवंशजोंको साक्षात् पुरुषोत्तम माननेकी अन्धरूढ़िके कारण पनपी अन्यान्य विकृतियोंको भी पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आवश्यक अंग मानना पड़ेगा ! आधुनिक न्यायप्रणालीके प्रवर्तक अंग्रेज़ न्यायाधीशोंने श्रीयदुनाथजी महाराजके लायबल–केस्में तो ऐसा स्वीकार भी लिया था !! मुझे, किन्तु, खयालमें नहीं आता कि किसी भी पुष्टिमार्गीय गोस्वामी–आचार्यने ‘‘कानूनके आगे किसीकी क्या चल सकती है ?’’ ऐसी विवशता दिखला कर उन अन्धरूढ़िरूप विकृतियोंको *सार्वजनिक रूपमें* पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या आदर्श के रूपमें मान्य रखा हो ! कारण स्पष्ट है कि नैतिक रूपमें तब विक्टोरिअन मोरेलिटीका जोर अधिक होनेके कारण पुष्टिमार्गकी समाजमें इतनी तीव्र निन्दा हुयी कि कोई धृष्ट अपराधी ऐसा स्वीकारना चाहता होगा तो भी स्वीकार नहीं पाया होगा ! आज जबकि धार्मिक साधनाप्रणालीको उसके विशुद्ध रूपमें अनुसरनेकी निष्ठा स्वयं पुष्टिमार्गकी अनुगामी जनता ही लगभग खो चुकी होनेसे उपदेशकवर्ग भी, कानूनका बहाना बना कर, अपसिद्धान्तका खुल्ला समर्थन करने लगे हैं ! यह सर्वप्रथम मौलिक प्रतिबन्ध आधुनिक न्यायप्रणालीके कारण हमारी साधनाप्रणालीमें प्रकट हुवा है.

फिरभी पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या आदर्श को उसके विशुद्ध रूपमें जो अनुसरना चाहते हों उनकी धार्मिक स्वतन्त्रताका अपहरण होना तो स्वयं न्यायप्रणालीके अस्वस्थ बन जानेकी शोकान्तिका सिद्ध होगी. एतदर्थ मौलिक सिद्धान्तका विमर्श सभीके लिये अवश्यमननीय तथा अवधारणीय लगता है.

५.पुष्टिमार्गीय इतिहासके कालखण्ड :

सामान्यतया किसी भी वंशकी चार पीढ़ीकी अवधि प्राय सौ वर्षकी मानी जाती है. तदनुसार [१]पुष्टिमार्गकी प्रथम शतीके महाप्रभु श्रीवल्लभ और उनके वंशजोंकी तीन पीढ़ीका इतिहास, मार्गके प्रवर्तन–प्रसारणका प्रभातकालीन श्रद्धोत्पादक वृत्तान्त है. [२]द्वितीय चार पीढ़िओंका वृत्तान्त मध्याकाशमें चमकते मार्तण्डके मध्याह्नकालीन प्रतापके जैसा मार्गमें श्रद्धावर्धक माना जा सकता है. [३]तृतीय चार पीढ़ीका अर्थात् नौवींसे बारहवीं पीढ़ीके वल्लभवंशजोंका वृत्तान्त शनैः–शनैः अपनी चमक–दमक खोते जाते ढलते सूरजकी तरह विवश अपनी धर्मनिष्ठाकी चमक–दमक खोते जानेवालोंका वृत्तान्त अपनी श्रद्धाको कथञ्चित् निभानेका है. [४]चौथी चार पीढ़ीका वृत्तान्त अर्थात् तेरहसे सोलहवीं (या अगली पांचवीं शतीकी सतरहवीं–अठारहवीं पीढ़ी भी गिन लेनी हो तो इन) पीढ़ियोंका वृत्तान्त, परिगणित अपवादोंको छोड़ कर, धर्मनिष्ठाके सूरजके अस्त हो जानेके कारण निर्मूल परम्पराओंके सर्वमान्य बन जानेका श्रद्धाके विलोपनका वृत्तान्त है. अतएव तेरहवीं–चौदहवीं पीढ़िओंके सावधान धर्माचार्योंके ये क्लेशपूर्ण उद्गार नितान्त मननीय हैं **१.‘‘श्रीमदाचार्यकी कहा इच्छा है सो जानी नहीं परत है... जो नित्यनेम है सो नित्य भोजन करे हैं और नित्य गपोड़ा मारे हैं, और नित्य चैन उठावे हैं. सो ये हमारे चरित्र हैं ! सो पलंगड़ीवारे ही पार लगावेंगे !! २.‘‘जो आगे सो–सवासो बरस पहेले तो श्रीगो.बा.कुं तथा बहु–बेटीन् कुं अपने स्वरूपको ज्ञानहतो. अब आजकल नहीं है ताको कारण अन्नदोष, दुःसंगदोष वगेरे बहोत बढ़ गये हैं, जो देवी जीव हते वो तो सब... वैकुण्ठमें पहोंच गये... और देवीन्की देखादेखी आसुरी जीवने भी ब्रह्मसम्बन्ध ले लियो उनकुं ब्र.स. तो नहीं भयो... उनको दुःसंग हु श्रीगो.बा.कुं भी भयो तब अपनो तथा प्रभून को स्वरूप भूल गये. और लौकिकमें आसक्त होय गये... सो शोख–साहिबीकी टेव गो.बा.कुं पड़ी है... घरमें प्रभु बिराजते होंय उनके विनियोग न करायके अपने अर्थ लगायवेसुं स्वरूपकी विस्मृति होय जाय है... और श्रीमहाप्रभुजीने जा प्रमाण रहवेकी आज्ञा करी ता प्रमाणसूंअब रह्यो नहीं जाय. घरमें वैभव बढ़ जायवेसुं पैसावालेन्को आश्रय करवेसुं भगवद्भावकी हानि होय जाय है’’ (१२० वचना.३०. श्रीगोवर्ध.वचना.२१)**. अतः इत्थंवर्णित धर्मगुरुओंद्वारा पोषित निर्मूल परम्पराकी दुहाई आजकी सोलहसे सतरहवीं पीढ़ीके हम गोस्वामिवृन्द दे रहे हैं. यह गहरी अन्धेरी रातमें दिशाबोधसे रहित पुष्टिमार्गमें भटकनेवाले हम आधुनिकोंकी शोकान्तिका है ! अतः टकरावके लिये प्रमुख उत्तरदायी आधुनिक न्यायप्रणालीको ठहराना कितना उचित हो सकता है ?

६.ऐतिहासिक तथा साम्प्रतिक टकरावोंका तुलनात्मक रूप :

[१/क]पुष्टिभक्तिसम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके इतिवृत्तमें भी तदानीन्तन कानूनसे टकरावके कतिपय प्रसंग उपलब्ध होते हैं. इनमें प्रस्तुत सन्दर्भमें उल्लेखनीय प्रसंग चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत सम्पन्न व्यापारी श्रीदामोदरदास संभलवालेकी वार्तामें आता है. तब जो हिन्दु मुसल्मान बन जाते थे उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्तिपर अबाधित उत्तराधिकार मिलनेका कानून था. जो परन्तु अपना धर्म बदलते न थे उन्हें प्रशासनसे उत्तराधिकार मान्य करवाना पड़ता था. अतएव संभलवालेके पुत्रने धर्मपरिवर्तन कर लिया था. श्रीदामोदरदासकी देह छूटनेके बाद उनकी पत्नीने अपने पतिकी मृत्युके समाचार अतएव छिपा कर श्रीद्वारकाधीशका स्वरूप और घरकी सारी चलसम्पत्ति महाप्रभुको भिजवा दी. उसे यह न सुहाया कि सेवार्थ समर्पित दैवी सम्पत्ति अपने मुसल्मान पुत्रके हत्थे पड़ जाये! परन्तु लक्ष्मीके साथ नारायणके घरमें पधारनेके समाचार सुन कर महाप्रभुने सारी लक्ष्मीरूपा चलसम्पत्ति श्रीयमुनाजलमें विसर्जित करवा दी. केवल नारायणरूप श्रीद्वारकाधीशके स्वरूपको ही अपने घरमें पधरानेकी आज्ञा दी. यों सारे सम्भावित कानूनी अड़ंगों या झगड़ों की जड़ ही महाप्रभुने तो तब काट दी थी. अतः टकराव हो नहीं पाया (द्रष्ट.८४ वै.वा.३।८). इतनी सामर्थ्य आज उनके हम वंशजोंमें होती तो आज भी आधुनिक न्यायप्रणालीके साथ बहोत सारे टकरावसे बचा जा सकता था! अधिकांश श्रीवल्लभवंशज गोस्वामी धर्मगुरुओंने कराधानके कानूनी दावपेंचसे बचनेके लिये अपने परिवारमें जुटे वैभव या सम्पदा पर [१]भोगाधिकार [२]व्यवस्थाधिकार [३]आनुवंशिक उत्तराधिकार यों तीनों अधिकारोंकी सुरक्षाके मोहमें निजी स्वामित्वको इन्कार दिया. वैसे तो ट्रस्टकी मौलिक अवधारणासे ही यह सर्वथा विपरीत बात है; क्योंकि ऐसा करनेपर निजी स्वामित्व और न्याससम्पदाकी व्यवस्था के अधिकारके बीच भेदरेखा ही लुप्त हो जाती है. फिरभी आधुनिक न्यायप्रणालीने अपवादरूपेण इस विरोधाभासको पुष्टिमार्गीय धर्माचार्योंके बारेमें मान्य कर लिया! देवोत्तर सार्वजनिक स्वामित्ववाली सम्पत्तिमें भी उक्त [१,२,३] तीनों अधिकारोंको भोगनेकी छूट गोस्वामिओंको न्यासी माननेके बावजूद मिल गयी! इस चक्करमें, परन्तु, अपने मांथे बिराजते नारायणके स्वरूपको तो सार्वजनिकताकी यमुनामें पधराना पड़ा. यह तो किसी कुमारी कन्याको पाणीग्रहणद्वारा विवाहिता पत्नी बना कर उसे परपुरुषके लिये घरमें रखनेके जैसी रसाभासकी कथा है. यह है उदाहरण महावैपरीत्यका. इसे भगवत्सुखके विचारका बाना पहराया जाता है. यह, परन्तु, सचाई हो तो न्यासीको निजी उपभोगके स्वार्थको छोड़ देना चाहिये. महाप्रभु और प्रभुचरण के कण्ठोक्त निषेध **''जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो'' (अमृ.वच.१)''श्रवणादिनवकमपि... वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव; शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि'' (भक्तिहंस).**

[१/ख]पुष्टिमार्गके प्रभातकालकी दूसरी पीढ़ीपर अवस्थित गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके इतिवृत्तमें भी ज्येष्ठपुत्रके उत्तराधिकारवादका झंझावातोपम कानूनी मुद्दा उठा था. स्वयं महाप्रभुके शिष्य अष्टछाप श्रीकृष्णदासजीने यह कलह खड़ा किया. जतिपुरामें श्रीनाथजीकी सेवा करनेके प्रभुचरणके अधिकारपर तब प्रतिबन्ध लगा दिया गया! उस समय यह देवालय सार्वजनिक था इसे तो नकारा नहीं जा सकता परन्तु बादमें यह निजी पारिवारिक बना लिया गया, यह भी ऐतिहासिक तथ्य अक्सर भुला दिया जाता है.

वैसे ऐतिहासिक दृष्टिसे देखें तो श्रीनाथजीके स्वरूपकी सेवा स्वयं महाप्रभु तो अपने सिद्धान्तके अनुरूप किसी सेवाकर्ताके घरमें ही नन्दालयकी भावनाके साथ करवाना चाहते थे. वे स्वयं, किन्तु, तब गृहस्थ न हो कर पर्यटनशील ब्रह्मचारी थे. सो इतने बड़े स्वरूपको साथ पधरा कर यात्रा शक्य न होनेसे, व्रजके अपने अनुयायिओंके मांथे श्रीनाथजीके स्वरूपको पधराना चाहते थे. किसीके भी, किन्तु, समुद्यत न होनेपर अन्तमें सदु पांडेने सुझाव दिया कि ''राधाकृष्णकुंडपर देवीभक्त बंगाली ब्राह्मण बसे हुवे हैं उन्हें श्रीनाथजीकी सेवा सोंप देनी चाहिये.'' महाप्रभुने एतदर्थ अपनी अनुमति तब दे दी (द्र.८४ वै.वा.४८।२). श्रीनाथजीके इन बंगाली अर्चकोंको न तो ब्रह्मसम्बन्ध मन्त्र देकर पुष्टिसम्प्रदायमें दीक्षित किया गया और न पुष्टिभक्तिके अनुसार स्वयं श्रीनाथजी किसीके घरमें नन्दालयकी भावनाके साथ तब बिराज पाये. वैसे स्वयं महाप्रभुने भी पुष्टिभक्तिके शक्य न होनेपर मर्यादाभक्तिके अनुसरणको भी सिद्धान्ततः तो मान्य रखा ही था (द्रष्ट.भ.व.८,त.दी.नि.२।२५५, सा.दी.३६). अतएव प्रथम तो श्रीनाथजी मर्यादामार्गीय प्रणालीके अनुसार सार्वजनिक देवालयमें ही बिराजे. सार्वजनिक देवालयके निर्माणार्थ अर्थराशि प्रदान करनेवाले ब्राह्मणेतर श्रीपूरण मल क्षत्रियको इसीलिये साक्षात् स्वरूपसेवाकी अनुमति महाप्रभुने प्रदान की थी(८४वै.वा.२४।१). गामसेजुटायी भगवान्की

भोगसामग्रीकी सेवाके हेतु भी क्षत्रिय रामदास चौहानको अधिकृत किया गया था (८४ वै.वा.४८।२). यह सब महाप्रभुकी गृहसेवामें बिराजते स्वरूप श्रीमदनमोहनजी श्रीगोकुलनाथजी या श्रीविट्ठलनाथजी आदिकी पुष्टिमार्गीय रीतिके अनुसार की जाती सेवामें प्रचलित न था. इसी तरह श्रीनाथजीकी सेवार्थ अपेक्षित सामग्री भक्तजनतासे जुटाने आदिकी व्यवस्थाका अधिकारी उक्त श्रीकृष्णदासजीको बनाया गया था. सो रुष्ट होनेपर उन्होंने प्रभुचरणपर ही श्रीनाथजीकी सेवामें प्रतिबन्ध लागू कर दिया. वैसे प्रभुचरणने तो इसे निष्प्रतिवाद मान्य ही रखा. फिरभी तत्कालीन मुगल राज्यके प्रमुख मन्त्री बीरबलने श्रीकृष्णदासजीको कारागृहमें डाल दिया. यों सरकारी अनुज्ञा प्राप्त कर श्रीनाथजीकी सेवा करना उचित न माननेके कारण प्रभुचरणने स्वयं महाप्रभुद्वारा अधिकृत श्रीकृष्णदासजीके द्वारा कहे जानेपर ही सेवा करनी उचित मानी थी (द्रष्ट. : ८४ वै.वा.८४।७). इससे सिद्ध होता है कि प्रभुचरणने धार्मिक विषयमें राज्याज्ञाके बजाय अपने पिता महाप्रभु अर्थात् धर्माचार्यकी आज्ञाके पालनको आदर्श माना **''सो गुसांईजी तो सेवा-सिंगार करि जांय और काहूसों कछु कहे नहीं. कोई सेवक श्रीगुसांईजीसों पूछे तब श्रीगुसांईजी आप कहें जो कृष्णदास अधिकारीके पास जावो – हम जानें नहीं''** (८४ वै.वा.८४।२). स्वयं धर्माचार्य जब धर्मके विषयमें भी धर्मग्रन्थोंकी आज्ञासे अधिक प्रमुखता कानूनकी स्वीकारने लगता है, तब वह स्वयं ही कानूनके अधिकारिओंकी अपनेसे अधिक श्रेष्ठताका छद्मस्वीकार कर लेता है. कानून धर्मेतर विषयमें समाजमें सर्वोपरि हो सकता है. धर्म और कानून की किन्तु अपनी-अपनी क्षेत्रमर्यादा तो होती ही हैं. आजके हम वल्लभवंशज धर्माचार्योंने इस विषयमें अपना आत्मविश्वास खो दिया. अतः अपनी साधनाप्रणालीमें न्यायप्रणालीके हस्तक्षेपको स्वयं हमने आमंत्रित किया है. स्वधर्मसे विपरीत आचरणके कारण हमारे पुष्टिसम्प्रदायके भगवत्सेवास्थल और सेव्यस्वरूप कानूनके क्षेत्रमें अन्तर्भूतहो गये. कानूनी क्षेत्रमें आती बात - *जनताके हेतु, जनताके द्रव्यसे और जनताके प्रतिनिधितया* - भगवत्सेवारूप स्वधर्मके अनुष्ठानको हमने अपने परमधर्मके रूपमें अब मान्य कर लिया होनेसे!

[१/ग]पुष्टिमार्गके प्रभातकालकी तीसरी पीढ़ीपर अवस्थित श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीके इतिवृत्तमें भी एक महान् झंझावात या कानूनसे टकराव पैदा हुवा था. उज्जयिनीके चिद्रूप संन्यासीके प्रभावमें आ कर जब

बादशाह जहांगीरने हमारेद्वारा भगवत्सेवामें अवश्यधारणीय तुलसीमाला और ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था. तब उस प्रतिबन्धसे डरे बिना अपना मुद्दा बादशाहके सामने श्रीगोकुलेशने प्रस्तुत किया. ''तिलक-माला उतारी क्यों नहीं?'' पूछे जानेपर ''हमारी गरदन उतारी जानेके साथ ये उतारी जा सकती हैं'' ऐसी निर्भीक वाणीमें दो-टूक बात कह देनेका साहस प्रकट कर दिखाया. तब बादशाहने माला-तिलक न छोड़ने हों तो गोकुलमें अपने घरको छोड़ दो! ऐसा विकल्प सामने रखा. इसपर अपनी भवनसम्पत्तिके बजाय अपने सेवार्थ धारणीय तिलक-मालाके चिह्नोंकी उपादेयता अधिक स्वीकारनेवाले श्रीगोकुलनाथजी सोरम जा कर बस गये (द्रष्ट. : मालोद्धा.मांग.५-६). ऐसी स्वधर्मनिष्ठा आज हमारे भीतर कहां बच पायी है!

ऐसी है अपनी साधनाप्रणाली और न्यायप्रणाली के आपसी टकरावकी पुष्टिमार्गके प्रभातकालके इतिहासकी कथा!

[२/ख-ग-घ]प्रथम चार पीढ़िओंमेंसे तीन पीढ़ीके उल्लिखित इतिवृत्तके बाद दूसरी चार पीढ़ियोंमें अर्थात् पांचवीं छट्ठी सातवीं और आठवीं पीढिओंमें हुवे कतिपय टकरावोंमें एक उल्लेखनीय टकरावका वृत्तान्त १२० वचनामृतकार श्रीगिरधरलालजीने विस्तारपूर्वक ६०वें वचनामृतमें दिया है. विवादका मुद्दा था : ज्येष्ठभ्राताके घरमें उत्तराधिकारी न रह जानेपर लघुभ्राताओंके घरोंमेंसे उत्तरोत्तर [य]कनिष्ठगृहोंके क्रममें जो ज्येष्ठ हो तदनुसार गोद लेना या जो [र]वयःक्रममें ज्येष्ठ हो तदनुसार गोद लेना. क्या इस विषयमें [ल] दिवंगत भ्राताकी विधवा पत्नीका निर्बाध स्वातन्त्र्य होता है या [व]कुलपरिवारकी किसी तरहकी रूढ़ि प्रबल होती है. इस विवादमें कुल-परिवारके सदस्योंका निर्णय [य+ल]कल्पके पक्षमें था. आग्रामें मुगल बादशाहके सामने रखी गयी फरियादमें भी पहले तो यही कल्प मान लिया गया. बादमें, किन्तु, बादशाहको कथञ्चित् खुश कर यह निर्णय बदलवा दिया गया. और तदनुसार परिवारमें सेव्यस्वरूपका बंटवारा करना ही पड़ा. लिहाज़ा दुबारा कभी बादशाही निर्णय बदल न जाये इस भीतिसे दोनों विवादशील परिवारके सदस्य बादशाही प्रदेशको छोड़ कर एक हिन्दुराज्य मेवाड़में जा बसा और दूसरा अंग्रेज़ोंको प्रशासनार्थ प्रदत्त सुरत शहरमें जा बसा. तबसे उठा हुवा यह विवाद अभी तक स्वतन्त्र भारतके न्यायालयोंमें चल ही रहा है!

वैसे मूलमें तो यह भगवान्के सेव्य स्वरूपको परमनिधि माननेवालोंके बीच भगवत्सेवाके उत्तराधिकारके बारेमें विवाद था. भवन सम्पदा पद या पदवी के बारेमें उत्तराधिकारका विवाद नहीं ! परन्तु विगत मध्यपाती कालमें इसने दूसरा ही रूप ले लिया है. अब यह सेव्यस्वरूपके आधारपर गृह/पीठका स्वरूप निर्धारित होता है या सेवाकर्ताके परिवारके गृह/पीठके आधारपर सेव्यस्वरूपोंमें ज्येष्ठत्व या वरीयस्त्व क्रम मान्य करना, यों पदवी सम्बन्धी विवादका रूप ले चुका है. इस विषयमें 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य' शीर्षकके साथ पहले भी एक लधुग्रन्थका प्रथम प्रकरण मैंने लिखा तथा प्रकाशित भी करवाया है. इस बारेमें मेरे विचारोंको वहांसे जाना जा सकता है.

जो इसमें साम्प्रदायिक चिन्ताका विषय है वह तो दूसरा ही है. क्योंकि मान कर चलें कि आधुनिक न्यायालय इस विकल्पमें सेव्यस्वरूपके किसी तथाकथित वरीयताके ही आधारपर गृह/पीठकी वरीयता निर्धारित कर दें, तो उसकी सीधी असर हमारेद्वारा उपस्थापित विचारणीय मुद्दोंके अन्तर्गत दूसरे-तीसरे मुद्दोंपर पड़ेगी –

> [२]सेव्यस्वरूप भी सेवाकर्ता और उसके परिवार द्वारा की जाती भगवत्सेवाके हेतु स्वार्थ-प्रतिष्ठापित होता है, परार्थ नहीं. अर्थात् पुष्टिमार्गानुगामी जनसाधारणकी धार्मिक साधनाके हेतु प्रतिष्ठापित नहीं. अतएव ऐसे निजगृहमें बिराजमान निजी आराध्य स्वरूपके भजनार्थ अधिकार भी [३]सेवाकर्ता, और उसकी अनुमतिके आधारपर, उसके पारिवारिक जनोंका ही होता है, पुष्टिमार्गमें दीक्षित हर किसी वैष्णव या जनसाधारण का नहीं.

अपने सिद्धान्तके ये मुद्दे अब सर्वनाशी कानूनके साथ टकरायेंगे ही. यह विशेषमें इसलिये भी कि अब यह विवाद देशके उच्चतम न्यायालयमें निर्णयार्थ प्रस्तुत होनेजारहाहै. अतः उसका निर्णय सारे देशमें कानूनकी हैसियत रखता होनेसे जिन पुष्टिमार्गीय घरोंमें ऐसा विवाद न हो उनपर भी एक सार्वभौमिक कानूनकी तरह लदने लगेगा ! क्योंकि निचली अदालतोंमें यह मुकदमा स्वयं पीठाधीश होनेके दावेदारोंने दायर नहीं किया. अपने अनुगामिओं द्वारा दायर करवाया गया. अतः जाने-अनजाने अपने सेव्यस्वरूपकी परार्थ-प्रतिष्ठाका आत्मघाती सिद्धान्त मान लेनेके दुष्परिणामोंसे ये ग्रस्त होंगे ही. वैसे तो मुकदमेमें सम्भावित जय/पराजयसे स्वयंको अप्रभावित रखनेकी अविचारित लालसाके वश ऐसा किया गया. फिरभी जय या पराजय किसी भी स्थितिमें यह अपने सेव्यस्वरूपकी स्वार्थप्रतिष्ठाकी हैसियतको प्रभावित तो करेगा ही. यों सैद्धान्तिक विकृतिको कानूनी जामा पहनाये जानेकी दुर्घटना यह सिद्ध होगी.

[३-४/क-ख-ग-घ]तीसरी-चौथी सदिओंकी नौमींसे सोलहवीं पीढ़ियोंमें हुए टकरावोंके इतिवृत्तोंकी तो इतनी भरमार है कि न तो सभीकी विवेचना और न परिगणना भी इस लघुकाय आलेखमें समेटी जा सकती है. फिरभी कुछ अवश्य उदाहरणीय इतिवृत्तोंकी चर्चा विचार्यविषयकी गम्भीरताको भलीभांति समझनेमें अतीव उपकारक होनेसे करनी ही पड़ेगी.

मुगल बादशाह ओरंगज़ेबकी बर्बर नीतिओंसे बचनेके लिये मेवाड़में आश्रय लेनेके बावजूद वाल्लभ सम्प्रदायके प्रधानपीठाधीश प्रायः सभी गोस्वामितिलकायित महाराज सर्वदा, अपने नीजी ठाकुरजी श्रीनवनीतप्रियजी तथा श्रीवल्लभवंशज गोस्वामिपरिवारके अविभक्त स्वत्ववाले श्रीगोवर्धननाथजी को, पुनः अपने स्वामित्ववाले गोकुल-जतिपुरा गामोंमें पधरा कर लौट जाने(१)का मनोरथ संजोते ही रहे ! मेवाड़के राणाओंके, परन्तु, कभी भक्तिभावके वश तो कभी राजाज्ञाके बन्धनमें बंधे होनेके कारण वह स्वप्न कभी पूर्ण न हो पाया !! अंग्रेज़ोंके साथ मेवाड़ राज्यके मैत्रीके समझौतेके मसौदेके कई अनुबन्धोंमें एक अनुबन्ध यह भी था कि मेवाड़ राज्यके तत्कालीन कानूनकी तरह अंग्रेज़ों द्वारा प्रशासित प्रदेशोंमें गोस्वामितिलकायित महाराजश्रीका गौरव जैसा कि उदयपुर राज्यमें निभाया जाता है वैसा निभाया जायेगा(२). इसी तरह मेवाड़ राज्यने भी अंग्रेज़ोंके हितके विपरीत जानेवालोंको अपने राज्यमें प्रश्रय न देनेका अनुबन्ध स्वीकारा था. फिरभी सन् ११ फरवरी १८५९ में स्वातन्त्र्य सेनानी श्रीतात्या टोपेके भाग कर मेवाड़ प्रदेशमें आ जानेपर, शायद ये लोग विजयी हो जायें तो राणाके बन्धनसे हमें भी मुक्ति दिलवा देंगे, ऐसी महत्त्वांकाक्षाके वश तत्कालीन गोस्वामितिलकायित महाराजश्रीने स्वतन्त्रताके सेनानिओंकी पूरे तीन दिनों तक नाथद्वारामें आवभगत की थी. तबसे मेवाड़ राज्य और गो.ति.म.के सम्बन्ध कटु बनते चले गये. सो इस हद तक कि स्वातन्त्र्य संग्रामको शान्त हो जानेके बाद अंग्रेज़ी राजके स्थिर

हो जानेपर गो.ति.म.श्रीने गवर्नरजनरलके एजेंट रिचर्ड केंड्विशके पास अपने प्रतिनिधि भेजने शुरु किये कि उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान की जाये (वीरविनो.पृ.१७९३–९५). बादमें तो सम्बन्धोंके पूरी तरह बिगड़ जानेपर १८७५में २१मईके दिन राजद्रोहके आरोपमें गो.ति.म.श्रीको क़ैद करके देशनिकाला दिया गया ‘‘इन दिनोंमें नाथद्वाराका गोस्वामी गिरधरलाल अपने क़दीमी ढंगको छोड़ कर रईसानह मग़रूरीके सबब रियासती हुकूमतसे बाहिर निकलनेकी चेष्टा करने लगा... इस वक्त बहुतसे बखेड़े उठे. श्रीगोवर्धनाथजीकी जो भेट कोटा गुजरात वगेरहसे आती थी उसमें भी... खलल डालना चाहा.’’ (वीरविनो.पृ.२१५३–५७).

उल्लेखनीय है कि वाल्लभ सम्प्रदाय न तो मेवाड़में राजाज्ञासे प्रवर्तित धर्म था, न राज्याश्रित धर्म था और न वह राज्यकी सीमाओंमें घिरा ही कोई धर्मसम्प्रदाय(३) था. हां मुगल बादशाह ओरंगज़ेबकी बर्बरतासे बचनेको उसकी प्रधानपीठ मेवाड़में स्थलान्तरण अवश्य कर चुकी थी. अतः मेवाड़राज्यमें आती चलाचल सम्पत्तिपर गो.ति.के स्वामित्वको मान्य रखना या उनसे छीन लेना, यह तो राज्यकी सार्वभौमिक इच्छा या नियम का विषय निश्चित था ही. परन्तु सम्प्रदायविशेषके प्रधानपीठाधीश होनेके अधिकारोंको निरस्त करना मेवाड़राज्यके नरेशोंके अधिकारसे बाह्य विषय था. अतएव श्रीगिरिधरलालजीको गोस्वामितिलकायितके पदसे च्युत कर एवं नाथद्वारासे निष्कासित कर वह पद उनके पुत्र श्रीगोवर्धनलालजीको सोंप देना राज्यहितमें होनेपर भी एक अन्याय ही था. यही कारण था कि मेवाड़राज्यसे श्रीगिरिधारीजी महाराजके निष्कासनके बावजूद देशके अन्यान्य भूभागोंमें रही उनकी सम्पत्तिपर गो.ति.श्रीगिरिधरलालजीके स्वामित्वको देशकी अन्यान्य रियासतोंने, नामशः, हैदराबाद कोटा आदिने अमान्य नहीं किया. स्वयं अंग्रेज़ोंद्वारा प्रशासित प्रदेशोंके न्यायालयोंने भी अमान्य नहीं किया. इस बारेके कई दस्तावेज भी उच्चतम न्यायालयमें गो.ति.म.श्रीने प्रस्तुत किये थे पर जिरहके समय उनपर न्यायाधीशका ध्यान नहीं खींचा गया.

अवधेय है कि गोस्वामितिलकायित होनेका पद श्रीनाथजीकी मूर्तिके प्रधानपुजारी होनेपर निर्भर न था. क्योंकि ऐसा होता तो आरम्भमें जब असाम्प्रदायिक बंगाली पुजारिओंको सेवाधिकारी बनाया गया तब, स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, प्रभुचरण गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी भी विद्यमान थे ही, अतः तब भी

वाल्लभ सम्प्रदायमें बंगाली पुजारिओंको प्रधान धर्माचार्य मानना पड़ेगा ! वस्तुतः तो श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके समय हुवे निजात्मजोंके साथ गृहविभाजनमें प्रमुख घर पिताका और शेष सात घर पुत्रोंके, यों एक प्रधानपीठाधीश और सात उपपीठाधीश, ऐसा वरिष्ठताक्रम निर्धारित हुवा था. गो.ति.म.श्रीको, अतएव संयुक्त परिवारकी अविभक्त निधिस्वरूप श्रीनाथजीकी सेवाका विशेषाधिकार सोंपा गया. यह भी वर्षके केवल ६० दिनोंका ही था. इसके विपरीत यद्यपि तीन दिनसे अधिक किसी भी एक वल्लभवंशज व्यक्तिका सेवाधिकार न होनेपर भी शेष वल्लभकुलके गोस्वामिओंके बटमें ३०० दिन मुक्त रखे गये थे. गो.ति.म.श्रीके प्रमुख सेव्यस्वरूप तो श्रीनवनीतप्रियजी ही थे. अतएव आजकी तारीख तक इन्हें श्रीनाथजीके स्वरूपसे पृथग्-भवन पृथग् नेग भोग राग तथा कर्मचारी वृन्दकी पृथग्-व्यवस्थाके अन्तर्गत पधराये रखा गया है. न केवल इतना प्रत्युत इनके राजभोग धरनेके समय श्रीनाथजीको भी भोग धरनेकी भावना रख कर दो थाल पधराये जाते हैं. यह पृथग् व्यवस्था ही इस तथ्यका प्रमाण थी (द्र.१२०वचना.६,४६,५१,६८). यह खुलासा भी मिलता है कि ‘‘**सो सात स्वरूप और श्रीनाथजी तो एक ही हैं, यामें सन्देह नांही है. परि श्रीनाथजीको घर है सो श्रीमहाप्रभुजी–श्रीगुसांईजीने देवद्वार राख्यो है; और, और स्वरूप तो अपने–अपने घरमें बिराजे हैं**’’ (वहीं.वचना.८१). पहले यह देवालय सार्वजनिक था परन्तु प्रभुचरणके सतघरामें श्रीनाथजीके बिराजनेके बाद अर्थात् पुनःप्रतिष्ठाके बाद जति फिरभी मेवाड़ राज्यने अन्यायपूर्ण तरीकेसे गो.ति.के आत्मजके तब अल्पवयस्क होनेके कारण वाल्लभ सम्प्रद्रायकी प्रधानपीठको मेवाड़ राज्यके आधीन वैष्णवोंका मन्दिर घोषित किया. पुनः यहां उल्लेखनीय हो जाता है कि गो.ति.श्रीगोवर्धनलाल महाराजश्रीने अपनी आयुके उत्तरार्धमें उदयपुरनरेशको प्रेषित एक घोषणापत्रमें मेवाड़ राज्यद्वारा नियुक्त प्रबन्धसमितिके अनुसार संस्थानके प्रबन्धको सम्प्रदायाभिमत सिद्धान्त और परम्परासे अविपरीत होनेपर ही मान्य रखनेके सशर्त आश्वासनके साथ-साथ अपने संस्थानसे जुड़ी यच्च-यावत् चलाचल सम्पत्तिपर अपने पूर्ण स्वामित्वकी घोषणा भी की थी. वह भी इस स्पष्टीकरणके साथ कि देवोत्तर सम्पत्ति उनके व्यक्तिगत उपभोगमें ली जानेकी न तो परम्परा है और न ऐसा कार्य वे कभी करेंगे ही (द्र.अमृ.वच.८). इस घोषणापत्रमें किये गये दावेको न तो तत्कालीन मेवाड़राज्यके नरेशने अमान्य किया था और न कोई अनधिकारचेष्टा करनेका अपराधी गो.ति.महाराजश्रीको माना था. इसी अवधिके बीच इनके पुत्र गो.श्रीदामोदरलालजीका अवांछनीय

प्रकरण छिड़ जानेसे स्वयं पिताने अपने पुत्रको गो.ति.के पदके अयोग्य घोषित कर अपने पौत्र गो.श्रीगोविन्दलालजीको उत्तराधिकारी घोषित किया इसकी सम्पुष्टि मेवाड़राज्यके नरेशद्वारा की गयी(५). बादमें देशके स्वतन्त्र होनेपर स्वयं गो.ति.श्रीगोविन्दलाल महाराजश्री श्रीनाथद्वाराका प्रबन्धाधिकार स्वयं अपनी ओरसे सरकारको सोंपने उद्यत(६) हो गये. तब राजस्थानके उच्च न्यायालयमें सभी गोस्वामिओंके प्रतिनिधिओंने मिल कर स्वयं गो.ति.महाराजश्री तथा सरकार दोनोंपर अपने अधिकार और हित के विरुद्ध कार्य करनेका मुकदमा चला कर जीत लिया था. इससे रुष्ट हो कर भारतसरकारने राष्ट्रपतिके अध्यादेशद्वारा श्रीनाथद्वारास्थित मन्दिरको सरकारके ताबेमें अधिगृहीत कर लिया. बादमें वैसे तो गो.ति.महाराजश्रीने भी अन्यान्य हेतुओंके कारण सरकारपर दावा किया कि सरकार इस कारवाईसे उनके मौलिक अधिकारोंका हनन होता है. सो राजस्थानके उच्चन्यायालयमें तो वे अंशतः जीते भी. लेकिन देशके उच्चतम न्यायालयमें किन्तु उन्हें अन्तमें पराजित होना ही पड़ा. क्योंकि उच्चतम न्यायालयका सोच यह था कि सरकार यदि अधिगृहीत न कर सकती हो तो गो.ति.म.श्री स्वयं (द्रष्ट.६) उसे सोंपने क्यों गये ?

यह है वाल्लभ सम्प्रदायकी प्रधानपीठकी आधुनिक न्यायप्रणालीके साथ टकराव और पराजय की कथा. यह कथा इस सम्प्रदायके प्रधान धर्माचार्यको नाथद्वाराके मन्दिरमें कानूनन जनप्रतिनिधि प्रधानपुजारी तथा आनुवंशिक व्यवस्थापक न्यासी(७) बना देनेकी !

इस टकरावमें प्रमुख उल्लेखनीय पहलु यह है कि गो.ति.महाराजश्रीके वकीलोंने उनके सम्पत्तिके उपभोग और व्यवस्था के मौलिक अधिकारके हननका मुकदमा किया था, धार्मिक स्वात्रन्त्र्य तथा पदाधिकारोंके धार्मिक हितके मौलिक अधिकारोंके हननका नहीं. इसी तरह सम्प्रदायके सिद्धान्त भी स्वयं सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यचरण-प्रभुचरण आदिके ग्रन्थोपदिष्ट सिद्धान्तवचनोंके उद्धरण न्यायालयके समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किये गये. सर्वपल्ली श्रीराधाकृष्णनका 'भारतीय दर्शनका इतिहास' और श्रीआर्.जी.भाण्डारकरका 'शैविज़्म् एंड् वैष्णविज़्म्...' आदि असम्प्रदायी लेखकोके वचनोंको प्रस्तुत किया गया था. इन ग्रन्थकारोंमेंसे प्रथमने तो अपने लेखनमें कहीं भी भगवत्सेवाके निजी या सार्वजनिक होनेकी चर्चा ही नहीं की है. दूसरेने जबकि निजी गृह तथा सेवारीति का उल्लेखमात्र किया है. ऐसा किन्तु न तो एतत्सम्बन्धी मूलग्रन्थोंमें उपलब्ध होते सिद्धान्तोंके अवगाहनद्वारा किया गया और न उनका नामोल्लेख भी. सेवास्थल सेव्यस्वरूप सेवाधिकार तथा सेवाप्रयोजन को अकाट्य रूपमें निजी सिद्ध करनेवाले जो तथ्यदर्शी दस्तावेजोंके अंबार न्यायालयमें प्रस्तुत किये गये, उनपर भी जिरहके समय न्यायाधीशोंका ध्यान आकृष्ट नहीं किया गया ! अतएव उच्चतम न्यायाधीशोंके ये उद्गार कि–

> **''इस सम्प्रदायके कुछ मन्दिर भूतकालमें निजी रहे होंगे, कुछ वर्तमान कालमें भी निजी हो सकते हैं. कोई मन्दिर निजी है या नहीं इस बातका निर्णय उस मन्दिरसे जुड़े तथ्योंपर अवलम्बित होना चाहिये. ऐसा कोई सामान्य नियम नहीं है कि वाल्लभ सम्प्रदायमें सार्वजनिक मन्दिर निषिद्ध हो और अतएव नाथद्वाराको सार्वजनिक न माना जाये.''**
>
> (अनु.२२।एस्.सी.आर्.४३९/१९६८. गो.ति. श्रीगोविन्दलाल विरु. राजस्थान सरकार).
>
> **''यदि यह मन्दिर निजी होता और मन्दिरकी सम्पत्ति तिलकायतकी होती तो बात दूसरी थी परन्तु एक बार यह स्वीकार लेनेपर यह मन्दिर सार्वजनिक है यह तर्क दुर्बोध हो जाता है कि सम्पत्तिकी व्यवस्था तिलकायतद्वारा होनी सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार एक धार्मिक विषय है. वस्तुतः ऐसा कोई सिद्धान्त हमारे सामने प्रस्तुत किया ही नहीं गया.''**
>
> (वहीं अनु.६९)

हम देख सकते हैं कि न केवल सैद्धान्तिक वास्तविकता सर्वथा ही विपरीत है प्रत्युत राणाओंके द्वारा जारी किये गये विभिन्न प्रपत्रोंमें न केवल उक्त संस्थानकी चलाचल सम्पत्तिपर अपितु नाथद्वारा गांव और वहां बिराजमान श्रीनाथजीकी मूर्तिपर भी गो.ति.म.श्रीका स्वामित्व भूतकालमें स्वीकारा गया था(८). फिरभी न्यायाधीशोंने यह और कह दिया मन्दिरका बाहरी रूप महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी ने ओरंगज़ेबकी मन्दिरोंको तोड़ देनेके नीतिके कारण जानबूझ कर घर जैसा रखा होगा, तूटनेसे बचानेके उपायके

रूपमें (९). जबकि ओरंगज़ेबके पूर्वज शाहजहां जहांगीर अकबर हुमायु और बाबरसे भी पहले सिकन्दर लोदीके कालमें महाप्रभुने तो अपने सैद्धान्तिक मुख्यकल्पके अनुसार निजगृहमें सेवाके शक्य न होनेपर अनुकल्पतया सार्वजनिक मन्दिरमें भी कृष्णसेवा ही करनेके आग्रहके अनुरूप सार्वजनिक देवालय बनवाया था. जिसे बादमें अकबरके पूर्ण सद्भाव और आदरभाव रखनेके कालमें महाप्रभुके आत्मज प्रभुचरणने निजी होनेके मुख्यकल्पका रूप दिया था. यह मन्दिरके चारों ओरकी भूमिके निजी स्वामित्वके हेतु परिक्रयद्वारा किया गया. महाप्रभुके समयकी भगवत्स्वरूपकी प्रतिष्ठा अक्षयतृतीयाके दिन सार्वजनिक देवालयमें की गयी थी. उसके स्थानपर अपने निजी निवास सतघरामें फागुन वद सप्तमी(१०)को जो पुनःप्रतिष्ठा हुयी उसके उत्सवके प्रवर्तनद्वारा भी. वैसे आज तक यह परम्परा अपनी आत्माको खो कर भी विद्यमान है.

यों सम्प्रदायकी प्रधानपीठके बारेमें साम्प्रदायिक सिद्धान्त परम्परा और दस्तावेजों के आधुनिक न्यायप्रणाली द्वारा परिवर्तित विपरीत स्वरूपके चित्रको देखने लेनेके बाद उनसे टकरानेवाली न्यायप्रणालीके भी कुछ पहलुओंपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

प्रस्तुत आलेखपत्रकारके पितामहने अपनी अन्तिम अवस्थामें अपनी आधी सम्पत्तिका अपने सात पुत्रोंके बीच समविभाजन कर अवशिष्ट आधी सम्पत्ति अविभक्त परिवारके न्यासके रूपमें रखी थी. अपने सेव्य भगवत्स्वरूपोंको इसी अविभक्त पारिवारिक न्यासके अन्तर्गत ही पुत्रोंको सोंपे थे. उनके देहावसानके बाद ज्येष्ठपुत्र और उनके अन्य छह भाईओंके बीच ज्येष्ठपुत्रके एकाधिकारके बारेमें विवाद बढ़ कर न्यायालय तक पहुंच गया. परिवारकी प्रमुख सेव्यमूर्तिकी सेवाका अधिकार ज्येष्ठपुत्रका न माननेपर चेरीटी-कमिश्नरके पास अव्यवस्थाकी फरियाद ले कर बड़े भाईके जानेपर परिवारके शेष छोटे भाईओंने अपने बड़े भाईको देनेके बजाय भगवन्मूर्तिओंको तथा भगवन्मन्दिरकी चलाचल सम्पत्तिको सार्वजनिक न्यास मान लेनेका मन बना लिया. इसके समर्थनार्थ यह युक्ति खड़ी की गयी कि वैष्णव जनताको जब ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा दी जाती है तब वह भगवन्मूर्तिके सामने ही दी जाती है और वह उस मूर्तिकी सेवाका वैष्णव जनताको दिया जाता धार्मिक अधिकार है. इस युक्तिके अलावा मन्दिरके संस्थापक गो.श्रीगोवर्धनेशजी महाराजने

अपनी अन्तिम अवस्थामें उत्तराधिकारी सन्ततीके न रह जानेके कारण, योग्य उत्तराधिकारी न मिलने तक, अपने विश्वस्त वैष्णवोंको सुचारु प्रबन्धके हेतु न्याससमिति बनायी थी. वह वैष्णवोंकी न्याससमिति महाराजश्रीकी विधवा पत्नीके द्वारा गो.श्रीजीवनलालजीको धर्मपुत्रतया गोद लेनेपर वैसे तो स्वतोविसर्जित हो गयी थी. किन्तु गो.श्रीजीवनलालजीकी भी अन्तिम अवस्थामें उत्तराधिकारी सन्ततीके अभावके कारण पुनः वैसी प्रबन्धक-न्याससमिति बनानी पड़ी थी. यह न्याससमिति भी महाराजश्रीकी विधवा पत्नीके द्वारा उक्त गो.श्रीगोकुलनाथजीको धर्मपुत्रतया लेनेपर स्वतोविसर्जित हो गयी थी. फिरभी न्यायालयने इन पूर्वकालमें गठित प्रबन्धक-न्याससमितिओंको सार्वजनिक न्यासके प्रमाणतया स्वीकार लिया. और गो.श्रीगोकुलनाथजीके उक्त सम्पत्तिके अर्धांश अविभक्त संयुक्त पारिवारिक न्यासको सार्वजनिक न्यास मान लिया. अवधेय होता है कि हवेलीके संस्थापक गो.श्रीगोवर्धनेशजीके न्यासप्रलेखका यदि कोई दस्तावेजी महत्त्व वस्तुतः हो तो सम्पूर्ण सम्पत्तिको सार्वजनिक मानना तर्कसंगत होता, क्योंकि अर्धांशका अपने सात पुत्रोंके बीच समविभाजन और अर्धांशका अविभक्त पारिवारिक न्यासका प्रलेख स्वयंमें अनधिकारचेष्टा मानी जानी चाहिये थी. पर यह मुद्दा वादी-प्रतिवादी दोनोंमें से किसीने छेड़ा नहीं सो न्यायालयके भी ध्यानसे बाहर चला गया! यह सन् साठके दशककी कथा है. परन्तु तीसवें दशकमें एक मुकदमा अंग्रेज़ोंके आधीन भारतमें, धरणगांवमें जो गो.श्रीजीवनलालजीकी एक स्वयंकी हवेली थी वह उनके अवसानके बाद प्रबन्धक-न्याससमितिकी देखरेखमें थी, इसके बारेमें चला था. उस प्रबन्धक-न्याससमितिको धर्मपुत्र गो.श्रीगोकुलनाथजीका उत्तराधिकार मान्य नहीं था. परन्तु तब न्यायाधीशका निर्णय कुछ ऐसा था -

> **पुष्टिमार्गके सिद्धान्त नितान्त बेतुके हैं कि अपने अनुगामिओंका अधिकार अपने मन्दिरोंमें इस सम्प्रदायमें स्वीकारा नहीं जाता है. आशा करनी चाहिये कि वैष्णवजनताके पढ़-लिख जानेपर ऐसे सम्प्रदायका त्याग कर वह अन्य योग्य सम्प्रदायकी अनुगामी बन जायेंगी! परन्तु इस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको देखते हुवे सार्वजनिक मन्दिर इस सम्प्रदायमें माना नहीं जा सकता.(११).**

यह ईसाई चर्चके स्वरूपकी पूर्वधारणासे ग्रस्त सोचवाली विदेशी न्यायप्रणालीका निर्णय था. इसे परन्तु मुंबइके उच्च न्यायाधीशके सामने या तो विमर्शके हेतु

प्रस्तुत नहीं किया गया होगा या उन्होंने इसपर ध्यान नहीं दिया होगा. अतः तब मुंबइ उच्च न्यायालयके न्यायाधीश सम्मान्य गजेन्द्र गड़करने मुंबइस्थित गोस्वामिओंके भगवत्सेवोपयोगी आवाससंकुलको सार्वजनिक मन्दिर घोषित कर दिया.

स्वयं मेरे जन्मसे पहले हमारे आवासस्थलको 'मोटी हवेली' कहा जाता था वह न जाने कब-कैसे 'बड़ा मन्दिर' मेरे बाल्यकालमें बन गया. बादमें महात्मा गांधीके 'हरिजन-मन्दिर-प्रवेश'के आन्दोलनके समय भगवद्-दर्शन बंद करनेके हेतु पुनः उसे निजी आवासमें परिवर्तित करनेको मेरे पितामह गो.श्रीगोकुलनाथजीके जन्मनामके साथ उसे 'गोविन्दभवन' बनाया गया. इस पारिवारिक निर्णय लेनेको एकत्रित परिवारके सभी सदस्योंके अन्तर्गत मैं भी अबोध मूक द्रष्टा बना तब उपस्थित था जो आज तक मेरे स्मृतिपटल अंकित है. बादमें हरिजन मन्दिरप्रवेशके आन्दोलनके मन्द पड़ जानेपर बन्द हुवा भगवत्सेवाका प्रदर्शन मेरे चचेरे भाईके जन्मकी खुशीमें दोबारा टेरा खोल कर शुरु किया गया. और अन्तमें वह गोविन्दभवन आज तो 'बड़ा मन्दिर-सार्वजनिक न्यास' बन गया. अब हमारे परिवारको अपने सेव्य भगवत्स्वरूपकी सेवाके हेतु न्यासी बन बैठे वैष्णव धनिकोंको आवेदन करनेपर सेवाकी अनुज्ञा मिलती है ! जबकि न्यायालयोंमें कहा जाता रहा है कि गोस्वामी महाराजोंकी अनुज्ञा और माध्यम के बिना वैष्णव अनुयायिओंको भगवत्सेवा करनेकी मार्गरीति नहीं है ! किम् आश्चर्यम् अतः परम् !

अस्तु. इस तरहका न्यायनिर्णय प्रदान कर जब सम्मान्य गजेन्द्र गड़कर देशके उच्चतम न्यायालयमें न्यायाधीश बन कर पहुंचे तभी गो.ति.म.श्रीका मुकदमा राजस्थानके उच्च न्यायालयमें चल रहा था. वहां इस मुंबइके उच्च न्यायालयके निर्णयका अनुसरण करते हुवे गो.ति.म.श्रीको न्यायनिर्णयमें आंशिक विजय प्रदान की गयी. परन्तु जब गो.ति.म.श्री देशके उच्चतम न्यायालयमें इस आंशिक जयके विरोधमें आवेदक बन कर गये तब वहां प्रमुख न्यायाधीश स्वयं श्रीगजेन्द्र गड़कर ही थे. और उनके न्यायनिर्णयोंपर अवलंबित हो कर दिये गये निर्णयपर जब उन्हें देशके उच्चतम न्यायालयके न्यायाधीशकी हैसियतमें निर्णय देना था तब दूसरे किसी तरहके निर्णयकी सम्भावना स्वतः क्षीण बन जानी स्वाभाविक बात थी. अतः प्रधानपीठाधीशको वहां पराजित होना पड़ा ! इस आश्वासनके साथ कि

सरकारद्वारा अधिगृहीत किये जानेके कारण जो आर्थिक हानि गो.ति.म.श्रीको होती हो उसे नाथद्वाराके प्रसादविक्रयके बीस-प्रतिशत भुगतान द्वारा भरपाई किया जायेगा. सिद्धान्ततः नाथद्वाराकी आय-सम्पत्ति यदि देवस्वामिक हो तो उसका उपभोग गो.ति.म.श्रीको वाल्लभ सम्प्रदायके अनुगामी माननेमें भी बाधक होना चाहिये था, प्रधानपीठाधीश होनेकी तो कल्पना भी अशक्य है. देवद्रव्यके उपभोगके अतिशय वर्जित होनेके कारण (द्र.''दाने न स्वविनियोगो नतु निवेदने'' नव.र.प्रका.१ अमृ.वच.१,४,८,१६,१७,१८). और इस आय या सम्पत्ति को अंशतः उपभोग करनेका गो.ति.म.श्रीका कानूनी अधिकार हो तो नाथद्वाराकी आय-सम्पदा देवोत्तर-सम्पदा होनी नहीं चाहिये, यदि यह संस्थान पुष्टिसम्प्रदायका हो तो ! पर इस सिद्धान्तको अब कैसे न्यायालय और अनुगामी जनताके गले उतारना ?

वाल्लभ सम्प्रदायकी प्रधानपीठमें ही जिस सिद्धान्तकी निष्ठुर अवहेलना हो रही हो ! तो अन्य स्थानोके बच पानेके कोई न्यायपूर्ण आधार भी बच नहीं जाते.

इस न्यायनिर्णयको आदर्श निकष मान कर बादमें नडियादकी हवेलीको भी सार्वजनिक मन्दिर मान लिया गया. जब वह अपना विवाद ले कर देशके उच्चतम न्यायालयमें पहुंची. इसी तरह कच्छ-मांडवीके घरके सार्वजनिक मन्दिर होनेका दावा वहांके कतिपय वैष्णवोंने किया. वहां नीचेके न्यायालयमें इस विवादमें, मुंबइके उच्च न्यायालयमें चले विवादके अन्तर्गत जो ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाको जनताको दिये जाते सेवाधिकारके रूपमें माना गया, उसे भी प्रमुख निकष माना गया. सौभाग्यवश उसके विरोधमें उच्च न्यायालयमें विवादशील वादी-प्रतिवादिओंने आपसी मतभेदका त्याग कर चेरीटीकमिश्नरके पास सिद्धान्तसे अविपरीत घड़ी गयी प्रबन्धयोजनाके द्वारा अपने-आपको गिरते-गिरते सम्हाल लिया.

यह न्यायप्रणाली और साधनाप्रणाली के आपसी टकरावके बावजूद पुष्टिसम्प्रदायके इतिहासमें दूसरी उल्लेखनीय घटना है. पहली घटना इस सम्प्रदायकी चतुर्थपीठके भी न्यायलयमें पराजयके बावजूद प्रबन्धयोजनामें सिद्धान्तोचित सुधार पानेकी सिद्धिके बाद !

जहां तक दीक्षाद्वारा सेवाधिकार मिलनेके सैद्धान्तिक तथ्यका प्रश्न है तो स्वयं ‘अधिकार’ शब्द संस्कृतभाषामें ^{१}आरम्भ ^{२}कर्तृत्वोपभोगी भोक्तृत्वोपभोगी और व्यवस्थोपभोगी स्वामित्व ^{३}योग्यता ^{४}कर्तव्य या ^{५}अनुवृत्ति आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है. इसपर ध्यान नहीं दिये जानेके कारण यह मुद्दा बिफरा है. सिद्धान्ततः ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा द्वारा दिया जाता ‘सेवाधिकार’ पद, उपभोग या व्यवस्था आदि करनेके अधिकारके अर्थमें, नहीं प्रत्युत योग्यता या कर्तव्य के अर्थमें ही प्रयुक्त हुवा है. अन्यथा गोस्वामिओंके घरोंमें साक्षात् भगवन्मूर्तिको छू कर की जाती सेवामें जनताका निर्बाध प्रवेशाधिकार और ऐसी सेवा प्रमुख कर्तव्य होनी चाहिये थी (द्र.“...निवेदनं... साक्षाद् गोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्” नव.र.प्रका.१). अतीव आत्मग्लानिके साथ स्वीकारना पड़ता है कि स्वयं हम गोस्वामिमहानुभावोंने अपनी आजीविकाके उपार्जनके लोभवश हमारी भगवत्सेवामें दर्शन-भेंट-प्रसाद-मनोरथके हेतु वैष्णव जनताको सम्मिलित होनेको लुभाया. इसका परिणाम यह हुवा कि जनता और न्यायप्रक्रिया दोनों इस अपसिद्धान्तको पुष्टिमार्गीय धर्म(१२) मान कर चलने लगे! जबकि वस्तुतः तो अपनी भगवदाराधनामें अपने निजी भक्तजनोंके अलावा अन्यको दर्शन कराना सर्वथा वर्जित माना गया है (द्र.सि.व.३) पराये किसीसे अपनी भगवत्सेवाके हेतु धन स्वीकारना ही नितान्त गर्हित माना गया है. दूसरे किसीकी भगत्सेवामें धनप्रदान कर प्रसाद लेना आदि भी नितान्त गर्हित कृत्य माने गये हैं (द्र.सि.व.२,४,७,११ तथा अमृ.वच.२,३,४,५,७,९,११,१३,१५,१७,१८). ऐसा स्पष्टीकरण या तो मुंबइके उच्चन्यायालयमें सुनवाईके समय दिया नहीं गया अथवा उसपर ध्यान नहीं दिया गया होगा. हमारे घरोंमें भगवत्सेवा करनेके जनताके अधिकारकी बात सिद्धान्ततः सर्वथा अप्रसक्त होनी चाहिये थी; क्योंकि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा उन्हें स्वयं अपने घरोंमें भगवान्के स्वरूपकी सेवाको अवश्यकर्तव्यतया निभानेको अनुबंधित करती थी (सिद्धा.वच.५, अमृ.वच.३,५,६,११,१२,१९,२१). परन्तु व्यवहारकी विपरीतताने सिद्धान्तका चित्र ही बिगाड़ कर रख दिया.

उदाहरणतया उपनयन-संस्कारके बाद ही द्विजकुमार विवाहका अधिकारी माना जाता है. यह योग्यता या कर्तव्य के अर्थमें प्रयुक्त ‘अधिकार’ शब्द है, किसीकी कन्याके बारेमें अपनी पत्नी बना लेनेके अधिकारका दावा न्यायालयमें प्रस्तुत कर पानेके अर्थमें नहीं. इसके विपरीत पुत्रका अपनी पितामहकी सम्पत्तिमें दायाधिकार केवल योग्यताके अर्थमें नहीं प्रत्युत वयस्क होनेपर उपभोगानुकूल स्वामित्वके अर्थमें होता है. इस तरह सेवाके अधिकार स्वरूप और प्रयोजन के सिद्धान्ताभिमत रूप प्रवर्तमान न्यायनिर्णयोंके साथ सीधे टकरावकी स्थितिमें आ पड़े हैं.

इससे भी अधिक भयंकर परिस्थिति इन मुकदमोंके बाद, अस्सी प्रतिशत गुरुकी चरणभेटसे जिसका खर्चा चलता था ऐसी, जुनागढकी हवेलीके बारेमें दिये गये न्यायनिर्णयके कारण उत्पन्न हुयी है. नाथद्वारा नडियाद बंबई के मुकदमोंमें यह कहा गया था कि वैष्णव साक्षात् भगवत्सेवा नहीं करते परन्तु पुष्टिमार्गीय हवेलियोंके भीतर रहनेवाले गोस्वामिओंके द्वारा स्वयं अपने मनोरथके अनुसार द्रव्यप्रदान कर भगवत्सेवा करवाते हैं. अतः गुजरातके उच्च न्यायालयने हवेलियोंके गोस्वामिओंको देवमूर्तिकी साक्षात् सेवा द्वारा जनताकी धनराशिको देवमूर्ति तक पहुंचानेवाली मोरी (कॉनड्यूइट् पाइप्) के रूपमें बिरदा दिया. और अतएव धर्मगुरुकी हैसियतमें उन्हें मिलती चरणभेंटको भी देवोत्तर सम्पत्तिके रूपमें सार्वजनिक घोषित कर दिया. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षामें सब कुछ भगवान्को समर्पित कर देनेकी भावना बतायी गयी है(१३).

यह ‘समर्पण’=‘निवेदन’, ‘दान’ और ‘त्याग’ के बीच रहे प्रभेदको समझे बिना किया गया विधान है. समर्पणकी प्रक्रियाद्वारा कुछ किसीको केवल उपभोगार्थ ही दिया जाता है, इसमें देनेवालेके स्वामित्वका न तो त्याग और न हस्तान्तरण ही अभिलषित होता है. इसके विपरीत दानकी प्रक्रियाद्वारा कुछ किसीको दिये जानेपर देनेवाला अपने स्वामित्वको निरस्त कर लेनेवालेके पक्षमें उसे हस्तान्तरित करता है (सिद्धा.वच.११). त्यागकी प्रक्रियाद्वारा देनेवाला दी जाती वस्तुपर अपना स्वत्व या स्वामित्व निरस्त तो करता है पर अन्य किसीको हस्तान्तरित नहीं करता. क्योंकि समर्पण, दान और त्याग के बीच रहे सूक्ष्म तारतम्यको माना न जाये तो ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेवाली वैष्णव जनताके गृह-सम्पदा-आय सभीका स्वामित्व जिस हवेलीमें ब्रह्मसम्बन्ध लिया हो वहां बिराजती भगवन्मूर्तिका होना चाहिये था! फिर तो निरपवाद पुष्टिसम्प्रदायके अनुगामिओंकी सम्पत्ति तथा आय देवोत्तर होनेसे सार्वजनिक न्यास घोषित होनी चाहिये थी!!

अभी तक सार्वजनिक देवालयमें सेवाधिकारी (शेबाइट्) की तथा आनुवंशिक उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त होते व्यवस्थापक होनेके अधिकारकी हैसियतमें देवोत्तर सम्पत्तिमें न्यायालयद्वारा मिले भोगाधिकार व्यवस्थाधिकार और दायाधिकार को भोगनेवाले हम गोस्वामिमहाराजोंने, निजी न हो तो न सही न्यासीके रूपमें ही सम्पत्तिके उपभोग करनेमें सन्तुष्ट थे. इस चक्करमें किन्तु निजी चरणभेंट भी खोनेकी बारी आनेपर सभी उद्विग्न हो गये ! अतः प्रायः सभी गोस्वामिमहानुभावोंने सूचित किये जानेपर प्रस्तुत आलेखकारको इस जुनागढ़के मुकदमेमें, वादी या प्रतिवादी न होनेपर भी, बाह्य आवेदनकर्ता व्यक्तिके रूपमें उच्चतम न्यायालयमें उपस्थित होनेको प्राधिकृत किया था. तब मैंने उच्च न्यायालयमें प्रस्तुत उस आवेदनमें न केवल जुनागढ़ अपितु नाथद्वारा-नड़ियादके मुकदमोंकी भी सैद्धान्तिक समीक्षा दी थी, जिसे प्रकाशित हो जानेपर अवलोकन किया जा सकेगा. मुकदमेकी सुनवाईके दरमियान किन्तु सारा विवाद सम्पत्तिके सार्वजनिक या निजी होनेपर वादी-प्रतिवादीके बीच चलता रहा. अतः न्यायाधीशोंने प्रस्तुत आलेखकारको न्यायालयके उठनेसे पहले केवल दस मिनिट प्रदान की. भारपूर्वक अनेकधा अनुरोध करनेपर भी सैद्धान्तिक मुद्दोंपर कुछ सुनना न्यायाधीशोंको आवश्यक नहीं लगा. फिरभी गोस्वामिमहाराजोंकी चरणभेंटको सार्वजनिक माननेके गुजरात-न्यायालयके निर्णयको अमान्य करनेके अलावा अन्य किसी भी सैद्धान्तिक मुद्दोंपर ध्यान नहीं दिया गया. परिणामस्वरूप जो गोस्वामिमहाराज प्रस्तुत आलेखकारके समर्थक थे वे भी आगे इस मुद्देको और न भड़कानेके मतके हो गये !!!

एतदर्थ पुष्टिमार्गीय धर्माचार्योंका संयुक्तघोषणापत्र प्रकट करनेकी बात चलानेपर भी उस घोषणापत्रपर हस्ताक्षर कर देनेके बाद पुनः मुकर जाना आदि अनेकविध कूटनीति खेली गयी. बादमें पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें भी उसी कूटनीतिके खेलको खेल कर उसे भी अनिर्णीत रखवा दी गयी. साथ ही साथ अपसिद्धान्तोंके पक्षको सच्चे सिद्धान्तोंकी प्रस्तुतिके रूपमें सहस्ताक्षर बिरदा दिया गया. वह भी उन महानुभावोंके द्वारा जो स्वयं चर्चासभामें अनुपस्थित थे ! जबकि वास्तविकता यह थी कि उक्त घोषणापत्र या चर्चासभा में विचारार्थ प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावलीके भावानुवादमें जो कुछ प्रस्तुत आलेखकारने संकलित किया था, उसे प्रायः सभी विरोधकर्ता पहले स्वीकृति दे ही चुके थे. नाथद्वाराके मुकदमेमें पराजयके बाद

दिवंगत श्रीआर.के.भट्ट द्वारा लिखित ‘श्रीवल्लभाचार्यके दार्शनिक आचारकी परम्परा’ नामक पुस्तिका जो नाथद्वारामन्दिरकी प्रबन्धयोजनाके मसौदेके रूपमें प्रस्तावित थी उसकी स्तुतिमें ये ही महानुभाव बहुत कुछ स्वीकार चुके थे (इसे विस्तारसे देखना हो तो प्रस्तुत आलेखकारद्वारा लिखित ‘विशोधनिका’ के तीन भागोंमें देखा जा सकता है).

मुद्दा यह नहीं कि प्रस्तुत आलेखकार सही था या उसके विरोधकर्ता. परन्तु [१]न्यायालयोंमें सिद्धान्तकी अप्रस्तुति [२]जनताके समक्ष भी पूर्वस्वीकृत धारणाओंका अस्वीकार, [३]व्यवहारमें वही सिद्धान्तविपरीत आचारणोंके उदाहरणोंको प्रोत्साहित करनेकी रीतिनीति, ये कुछ ऐसी बातें हैं जो वर्तमानमें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके आधुनिक न्यायप्रणालीसे टकरावको मार्गकी ध्रुवनियति बना देती हैं. स्वयं बहोत पहले कभी सिंहगर्जनाके साथ “**...ब्रह्मसम्बन्ध ले कर सेवा करनेसे प्रत्येक इन्द्रियोंका भगवान्में विनियोग होता है... मन्दिर=गुरुघर तो केवल उपदेशग्रहण करनेके लिये हैं. सेवा तो हमें अपने घरोंमें करनी है**” कहनेवाले महानुभाव उक्त सिद्धान्तचर्चासभामें अपना मत मेरे द्वारा विचारार्थ प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावलीके भावानुवादके विरोधमें दे कर; पुनः एक दिन, मुझे मिलने आये. दबी आवाज़में सफाई देने लगे कि बात तो आपकी सच्ची है परन्तु जिन लोगोंने अपने घरोंको सार्वजनिक मन्दिर न्यासके रूपमें सरकारी खातोंमें रजिस्टर्ड करवा लिया हो वे कहां जायें ? मैंने कहा “वे भी, जब तक कोई कानूनी उपाय मिल नहीं जाता तब तक, स्वमार्गीय सिद्धान्त तो खुल कर जनताके समक्ष कबूल कर ही सकते हैं”. मेरी यह बात सुन कर प्रसन्न हो गये और बोले कि *“अच्छा सिद्धान्त सिर्फ जनताके सामने कहते रहनेकी बात आप कह रहे हो ! हम तो समझे कि आप उसे अमल लानेका झगड़ा कर रहे हो ! मेरा तो मन नहीं मानता था कि श्याम मनोहरजी ऐसी अव्यावहारिक बात कभी कर सकते हैं !!”* ऐसी अपनी प्रशंसा सुन मैं इतना लज्जित हुवा कि पहले कभी कई सारी त्रुटियोंकी निन्दा सुन कर भी जीवनमें कभी इतना लज्जित नहीं हुवा !

यह किसी व्यक्तिनिन्दाके रूपमें प्रकट नहीं कर रहा हूं परन्तु प्रायः अधिकांश हम गोस्वामिओंकी स्वसिद्धान्तमें अस्थिर आस्था और तत्कालिक लौकिक स्वार्थपूर्ण हितोंकी तुलनामें सनातन आत्मिक हितोंकी अवहेलना की बचकानी

मनोवृत्तिके निदर्शनार्थ ही है. क्योंकि इसके कारण अपना वास्तविक दूरंगामी हित हमें बहुधा बुद्धिंगत नहीं हो पाता और पिटते रहते हैं. यह देशके स्वतन्त्र होनेसे पहले अमरेलीकी हवेलीके बारेमें वह सार्वजनिक देवालय है या निजी, इस बारेमें एक मुकदमा गायकवाड़ी राज्यमें चला था, उसकी दुर्नियतिको देखनेपर समझी जा सके ऐसी घटना है. उस समय सिद्धान्तविद् शास्त्रिओं और सुविज्ञ वैष्णवप्रतिनिधिओं की जुबानी सुननेके बाद रियासती अदालतने अमरेलीकी हवेलीको निजी घोषित कर दिया था. जुनागढ़के मुकदमेमें इस न्यायनिर्णयको उद्धृत भी किया गया, जिरहके समय; और उसपर न्यायाधीशोंका ध्यान भी आकृष्ट किया गया. गुजरात उच्चन्यायालयके न्यायाधीशोंने परन्तु उसे इसलिये महत्त्वपूर्ण प्रमाण नहीं माना; क्योंकि, उसके बाद वहांके महाराजश्रीने चला कर उसे सार्वजनिक न्यासके रूपमें सरकारमें दर्ज करवा दी थी! हमारे सिद्धान्तोंके बारेमें हमारी ऐसी अस्थिर निष्ठा हमारी सेवाके निर्बाध सिद्धान्तानुरूप अनुसरणमें सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है. कानूनी प्रतिबन्ध तो बहुधा इस अस्थिरनिष्ठाके कारण ही हमपर लदते रहते हैं.

हाल ही में द्वारकाधामके मन्दिरोंमें जो गुगुली ब्राह्मणोंका पूजाधिकार है उनमें किसीके पुत्रहीन होनेपर पुत्रीको वह अधिकार मिलना चाहिये क्योंकि आर्थिकलाभवाले पदोंका उत्तराधिकार पुत्री और पुत्र का समान होनेका कानून है. ऐसी स्थितिमें हमारे सेव्य भगवद्विग्रहकी सेवाका अधिकार भी यदि आर्थिक लाभवाला पद है ऐसी प्रस्तुति न्यायालयमें की जानेपर गोस्वामीतर परिवारोंमें परिणीत हमारी बहन-पुत्रीओंका, चाहे अब युगानुसार वर्णान्तर या धर्मान्तर में क्यों विवाहित न हो स्वीकारना पडेगा. आरक्षणनीतिके चलते अनुसूचित जातिवालोंको हमारी भगवत्सेवामें सेवाकर्ताकी बटालियनमें कुछ आनुपातिक अधिकार स्वीकारना पडेगा. बादमें पदोन्नतिकी प्रक्रियामें आरक्षणके मुद्दाके उठनेपर उन्हें गोस्वामीतर पुत्रीवंशजोंके अधिकारकी तरह पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें गोस्वामिपदपर भी कभी न कभी बढोत्तरी देनी पडेगी. क्योंकि अब हमारी भगवत्सेवा सार्वजनिक अनुष्ठान कानूनन स्वयं गोस्वामिमहानुभावोंने स्वीकार ली है. ऐसी परिस्थितिमें हालमें भागवतकथावाचक किरीट भाई फटानियाको ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान करनेका अधिकार है कि नहीं इस विषयमें जो विवाद सम्प्रदायमें छिडा हुवा है, उसमें स्वमार्गीय परंपराके भारवाही हम वल्लभवंशजोंको परंपराभारके साथ ही साथ

किरीटभाई जैसोंका भी दीक्षाधिकार ढोना ही पडेगा!

अन्तमें पुष्टिमार्गपर सनातन बदनामीके सनातन ठप्पा(!) जैसा ‘श्रीयदुनाथजी महाराज लायबलकेस’ के बारेमें कुछ देख लेना उचित होगा. इस केसका मूल दो विवाद थे : [१]अपुष्टिमार्गीय महादेवमन्दिरमें छप्पनभोगका मनोरथ हो सकता है या नहीं? [२]विधवा स्त्रीका पुनर्विवाह हो सकता है या नहीं?

इसपर हम पुष्टिमार्गके धर्मगुरुओंने तब बड़ा बवंडर खड़ा कर दिया था कि ऐसा सनातनधर्मके शास्त्रोंके आधारपर हो नहीं सकता.

उस समय [क]शिवभक्तोंकी, [ख]सुधारवादियोंकी और मुंबइमें अब ‘वी.पी.रोड़’ कहे जाते मार्गपर तब खुले [ग]ईसाई चर्चके पादरी विल्सन की एक संयुक्त धुरी पुष्टिमार्गके विरोधमें सामने आ खड़ी हुयी.

[क]इन शिवभक्त ब्राह्मणों तथा वल्लभवंशज गोस्वामी महानुभावों का तब आपसी साम्प्रदायिक वैमनस्य काम कर रहा था. सो डेढ़ सो वर्षपूर्व मुंबइके भुलेश्वर महादेव मन्दिरोंमें कुछ लोगोंने छप्पनभोगके मनोरथका आयोजन किया. तब छप्पनभोगके आयोजनोंकी प्रतिस्पर्धामें पुष्टिमार्गसे महादेवमन्दिर आगे बढ़ कर जनताको आकर्षित न करने लगे, इस भीतिके कारण उसके विरुद्ध पुष्टिमार्गीय धर्मगुरुओंने बवंडर खड़ा कर दिया. क्योंकि उनके अनुसार यह तो केवल पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें ही हो सकता था. सैद्धान्तिक वास्तविकता जबकि यह है स्वयं अपने द्रव्यसे करना हो तो ‘‘नन्दगांवके बड़े गोप श्रीनन्दरायजीने बरसानेके बड़े गोप श्रीवृषभानजीको उनके गांवके सहित गोठ दे कर आमन्त्रित किया’’ ऐसी लीलाभावना करनेको वह कोई भी पुष्टिमार्गीय छप्पनभोग कर ही सकता है. इसी तरहकी लीलाभावनाके बिना तो कोई भी अपने आराध्यको छप्पन या एक सौ अड़सठ तरहकी भोगसामग्री क्यों निवेदित नहीं कर सकता?

उल्लेखनीय है कि वस्तुतः तो ५६x३=१६८ से भी अधिक खाद्यसामग्री अपने यहां भगवान्को भोग धरी जाती होंगी. फिरभी जनसाधारणके सामने यह

लुभावनी रखी जाती है कि ८४,००००० योनियोंके बाद मिली अन्तिम मानवयोनिके बाद दूसरे ८३,९९९९९ योनियोंके चक्रको शुरु होनेसे रोकना हो तो ‘‘८+३+९+९+९+९+९$^{\text{(योनियां)}}$=५६ योग होता होनेसे छप्पनभोगके उत्सवमें भेंट-दर्शन-प्रसादग्रहण द्वारा मुक्त हुवा जा सकेगा ! सवाल यह नहीं कि सचमुच ऐसे उपहासास्पद व्यावसायिक सामग्रीप्रदर्शनोत्सवमें सम्मिलित होनेपर चौरासी लाख योनिका चक्र बंद होगा या नहीं ! भीषण समस्या तो यह है कि जब हमारे आराध्य स्वरूपके सामने छप्पनभोगकी सजावटके प्रदर्शनका ऐसा आयोजन हम परार्थ करते हैं, तब वह भक्तिभावरूप न हो कर एक थोथा कर्मकाण्ड बन जाता है. वह तो भुलेश्वरके महादेवजीके मन्दिरकी तरह ईसाई चर्च और मुसल्मानी दरगाह या पंचतारक होटल या क्लबहॉल में भी क्यों नहीं हो सकता ? अतः या तो भक्तिके ऐसे व्यावसायिक प्रदर्शनोंमें भोगसामग्रीकी संख्या सर्वथा ५६ ही होनी चाहिये थी अन्यथा ‘‘(८४,००००० - १)=(८+३+९+९+९+९+९)=५६ भोग’’ समीकरण त्रुटिपूर्ण लगता है ! खैर ऐसे उपहासास्पद बचकाने लुभावनका कोई भी सैद्धान्तिक या वैचारिक अथवा भावनात्मक महत्त्व तो नहीं होता. फिरभी इसके कारण हमारे सम्प्रदायमें की जाती भगवत्सेवा न तो पुष्टिभक्तिरूप न पुष्टिभक्त्यर्थ न आत्मोद्धारार्थ ही परन्तु कानूनन जनताके द्रव्यसे जनताके हेतु जनताके प्रतिनिधिओं द्वारा किया गया तथाकथित धार्मिक कर्मकाण्ड होनेसे हमारे सेव्यस्वरूप सेवास्थल सेवाप्रयोजन और सेवास्वरूप को सार्वजनिक सिद्ध करनेका पर्याप्त हेतु सिद्ध हो जाता है. विस्मयजनक बात तो यह है कि इसपर भी हम क़ायम न रहे और अब अपुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें स्वयं गोस्वामी महाराजश्री सम्मिलित होने लगे ! खैर (१४).

[ख] हिन्दुसुधारवादी कवि नर्मद स्वयं किसी विधवा स्त्रीके प्रति आसक्त होनेके कारण तब विधवाविवाहकी पैरवी कर रहे थे (१५). उन्होंने गोस्वामी श्रीयदुनाथजीको इस विषयमें सहमत करना चाहा. वैसे पुष्टिभक्तिके सिद्धान्तकी दृष्टिसे देखनेपर स्वयं महाप्रभु ‘‘**वर्णाश्रमवतां मुख्ये धर्मे नष्टे छलेन तु क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतः तस्माद् न मोचनम्**’’ - ‘‘**अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेद् बुधः**’’ (त.दी.नि.२।२२३ - २१५) खुलासा दे ही चुके थे. तो भी विधवाविवाहके सनातन वर्णाश्रमधर्मसे विरुद्ध होनेका बवंडर खड़ा कर व्यर्थमें पुष्टिसम्प्रदायको बदनाम करवानेका हमने पुरुषार्थ किया. जबकि आजीविकार्थ देवमूर्तिकी आराधना

करनेवाला स्वयं असत् शूद्रसे जघन्यकोटिका पतित होता है, पक्वान्नरूप प्रसादका विक्रय करनेवाला तो स्वयं सद्यःपतित हो जाता है, ऐसी वर्णाश्रमशास्त्रोंकी व्यवस्था हमारे भजनके सारे प्रकारोंके विरोधमें मुखरित थी ही. ऐसी स्थितिमें कोई विधवा स्त्री; या उसके साथ विवाह करनेवाला पुरुष, और कितना अधिक जघन्यकोटिमें पतित होता ? और होता तो होता वर्णाश्रमशास्त्रोंके पाबंद अन्य भी सनातनी हमें पिटते हुवे बचाने तो न आये ! फिरभी व्यर्थमें सनातनधर्मके ठेकेदार बन कर हमने ‘महाराज-लायबल’ केसकी दुर्घटनाको स्वयं आमन्त्रित किया था. हेतु केवल एक ही था : न तो वर्णाश्रमधर्ममें हमारी निष्ठा स्थिर थी और न वर्णाश्रमधर्मके विरोधमें ही. और तो और वर्णाश्रमधर्ममें न बंधनेवाली पुष्टिभक्तिमें भी हमारी निष्ठा स्थिर न थी ! आज भी वर्णाश्रमधर्मकी पाबंदीके बावजूद धड़ल्लेसे हमें यूरोप-अमरीकाकी यात्रा डॉलर आदि महंगी मुद्राओंके लाभके कारण लुभावनी लगती है. बादमें वहां यात्रा करनेका प्रायश्चित्त और नियत कर रखा है. वह भी १२,००० गउओंके दानका काशीके पण्डितोंने पूछनेपर बताया था, जिसके निमित्त अब कुछ पांच हजार रुपयोंका प्रायश्चित्त हम करते हैं ! इस धनराशि द्वारा प्लास्टिककी भी १२००० गाय खरीदी या दान में दी नहीं जा सकती ! यह है हमारी अस्थिर धर्मनिष्ठाका अकाण्डताण्डव ! अब तो स्वयं हमें ही पुनर्विवाह या विधवाविवाह में कोई आपत्ति गम्भीर नहीं लगती !

[ग] हिन्दुधर्मके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेवाले युरोपके विद्वानोंको तब लग रहा था कि ऋग्वेद आदिकी संहिताओंमें वर्णित धर्म तो वैसे भी प्रभावहीन हो गया है. भारतमें जो चल रहा है वह तो शैव वैष्णव शाक्त आदि पौराणिक धर्म ही. अतः उन्हें यदि समाप्त किया जा सके तो ईसाई धर्मके प्रचारको मुक्त वातावरण मिल पायेगा. अतः मेक्समूलर (१६), मोनियर विलियम (१७), पूर्वोक्त चर्चके पादरी विल्सन आदि अनेक भारतीयविद्याविदोंने इस दिशामें पुरुषार्थ प्रारम्भ कर ही रखा था. साथ ही साथ स्वयं हिन्दुओंमें भीतरसे सुधारकी हवा चलानेको नये पन्थ भी चलवाये गये थे. ऐसा सिनारियो तब था(१८). अब तो स्वयं यूरोप-अमरीकाके लोग हमारे पौराणिक धर्मके विविध सम्प्रदायोंमें दीक्षित अनुयायी बन कर उनका अनुसरण करने लगे हैं. तब छप्पनभोग कुंडवारा आदिके व्यावसायिक प्रदर्शनोंके साथ अब प्राचीन यज्ञयागादि और खेचरीयोग जैसी साधनाओंके आर्थिक लाभकारी मार्गदर्शनकी महत्ता हम वहांकी जनताको समझाना चाहते हैं. यह पुनः

हमारी अधूरी निष्ठा हमें कहीं अन्तरराष्ट्रिय स्तरपर कहीं ले न डूबे !

ये थे मूल हेतु हमें लायबल केस करनेको विवश कर देनेकी सीमा तक उकसानेके. उसके बाद उस केसमें हमारे भगवत्समर्पणके दिव्य सिद्धान्तको अनैतिक व्यभिचारको प्रोत्साहित करनेवाले सिद्धान्त और सम्प्रदायकी दीक्षाके रूपमें विकृततया व्याख्यायित कर दिया, अंग्रेज़ न्यायाधीशोंने. लायबल केसका मुक़दमा दायर करनेवाले श्रीयदुनाथजीपर जो अपमानजनक आरोप थे उन्हें सिद्ध न होनेके कारण उनकी प्रतिष्ठा अभियाचित पचास हज़ारके स्थानपर पचास पैसा मान कर उन्हें आरोपमुक्त कर दिया गया !

७.वर्तमान टकरावके निवारणका उपाय :

निष्कर्षतया कहना चाहुंगा कि हमारे भीतर भरे हुवे पुष्टिभक्तिके बीजभावसे आश्वस्त और प्रतिबद्ध पुष्टिजीवकेलिये तो साधारण या असाधारण, सह्य अथवा असह्य, सभी तरहके प्रतिबन्ध पुष्टिप्रभुकी किसी अतर्क्य लीलाके अनुभावके रूपमें स्वीकारे और सुखसंवेद्य बन सकते हैं. परन्तु भगवत्सेवा या भगवद्भक्ति में खटकनेवाले प्रतिबन्धोंके ही हम व्यसनी कहीं बने रहना चाहते हों तो हमारे प्रतिबन्धोंको भगवल्लीलाके रूपमें निहारने या आनन्द लेना का हमारा मनोभाव ही भगवत्सेवामें सबसे बड़ा प्रतिबन्ध बन जाता होता है ! इसमें किसी तरहकी शंकाका कोई अवकाश नहीं. पुष्टिसृष्टिके जीवोंके भीतर पुष्टिबीज पुष्टिप्रभुने किस प्रयोजनवश बोये हैं उस विषयमें सभानता जो पुष्टिजीवोंके भीतर सुरक्षित रहती है तो अत्यन्त विषम वातावरणमें भी पुष्टिभावको किस प्रकार बचाये रखना उसका प्रकार कहे बिना भी स्वयंस्फूर्त हो पायेगा. पर पुष्टिजीवको कैसे प्रतिबन्धका प्रतीकार किस प्रकार करना उन सम्भावनाओंकी विस्तृत सूचि उपलब्ध करा देनेपर भी अपने स्वरूपके प्रयोजनके बारेमें सभानता खो देनेवालेको बचा पाना सरल नहीं होता. अतः अब भी समय रहते हमारे आचार्यचरणकी वाणीमें हार्दिक निष्ठा हम पनपा पायें और तदनुसार वैष्णव जनताको भी प्रेरित करते रहनेकी आचार्योचित निर्भीकता और उत्तरदायिता स्वीकारें तो मार्गका वास्तविक उत्कर्ष हो नहीं सकता, ऐसा कमसे कम मुझे तो नहीं लगता. आवश्यकता है सच्चे हृदयसे भगवदाश्रयकी, वाक्पतिकी वाणीके साथ प्रतिबद्धताकी और अपनी चार्वाकोंके जैसी मनोग्रन्थिके छेदनकी कि ''आगे भी जाने न तू पीछे भी जाने

न तू जो भी है बस यही एक पल है !''

अन्तमें श्रीहरिराय महाप्रभुके शब्दोंमें कुछ कहना हो तो कहना चाहूंगा कि -

''पुनः कुत्र ईदृशं जन्म ? क्व आचार्यचरणाश्रयः ? कुतः साधनसम्पत्तिः, सामग्री दुर्लभा अखिला ?
दयालो ! दीनसौहार्द !!, स्वसेवाविमुखं जनं सेवायां सततं प्रवर्तय, परात्पर !!!''

(स्वप्रभुविज्ञप्ति : ११-१२).

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु !

::सन्दर्भसूची::

(१)श्रीनाथजीको उदयपुरराज्यके सिंहाड़ गांवमें बिराजनेकी सुविधाप्रदान करते समय गोस्वामितिलकायितकी तरह महाराणा उदयपुरकी भी समझ यही थी कि परिस्थिति सुधरनेपर श्रीनाथजी पुनः ब्रज पधारनेवाले हैं :

> "Maharajadhiraj Maharana Shri Rajsinghji commands from the auspicious Udaipur the Jagirdar of Sinhad and Brahmans and all inhabitants. Be it known that Shrinathji residing at Sinhad let uncultivated land as may desire be cultivated till such time, when Shrinathji goes back to Brij the land of those to whom it belong will... in fact. If any one then obstructs in any way he will be rebuked. Grant masani loghs in smt.1729 on Asoj sudi 15 Thursday.'',
>
> "Maharana Maharajadhiraj Shri Rajsinghji commands from the auspisious place of victory. Brahman Joshi Krisna Khemia Mohan Hari Jagha and Hava Pitha and all inhabitants of the Kheda of Sinhad. Be it known that when Shrinathji goes to

> Brij from Sinhad Brahmins will get the land which is of the Brahmins. They will get the land as is entered in previous records. So long as Shrinathji... Loghu in smt.1736 on Bhadwa sudi 6 Monday.''
>
> (As an Annexture No.5/13, 5/13A along with appppeal in Supreme Court case no.652 and 757 in the year 1962 by T.G. against State of Rajsthan)

(२-३)महाराणा उदयपुर द्वारा भारतके अंग्रेज़ गवर्नर जनरलको दि. १७ जनवरी १८२५ के दिन भेजा गया पत्र :

> "In time of Maharana Rajsingji the God Shri Govaerdhannathji and the ancestors of Gosainji or the High Priest of the Vaishnavas came from Brij to Mewar in the month of Falgun Samvat 1735. Our ancestors kept the Thakurji Maharaj and the Gosainji Maharaj at the village of Sinhad... After this our ancestors and all other Rajas great or little i.e. Jaipur Jodhpur Bundi Kota etc. became followers of that religion and agreed to obey orders... These are the practices and usages confirmed from old times of our ancestors. All the former Rajas and chiefs of Hindosthan did obey and the present to obey the orders of Sri Thakurji and Sri Gusainji Maharaj. The orders will not be departed in any way... As a friend I earnestly request Government to issue orders to the several Agents of Government, accredited at the courts of the different Rajas to see that in any case in which the Maharaj is concerned, no agent is to raise any dispute with regard to the above-mentioned matters ''(As an Annexture No.13 along with appppeal in Supreme Court case no.652 and 757 in the year 1962 by T.G. against State of Rajsthan)

(४)फरमान ब–आलाशान अतिए जलालुद्दिन मोहम्मद अक़बर बादशाहे ग़ाज़ी :

‘‘इस मुबारिक वक़्तमें फरमान जारी हुवा कि गुसांई विट्ठलराय साकिन गोकुल मोज़े जतिपुरा मुत्तसिल परगने गोरधन में ज़मींदारों से रुपया दे कर ज़मीन खरीद कर मक़ानात व बाग़ात व गायों के खिड़क व मंदिर गोरधननाथ के कारखाने तैयार करा कर रहता है. इसलिये हुक्म जारी हुवा कि ऊपर लिखे मोज़े को गुसांई मज़कूर के क़ब्ज़े में नसलन बाद नसल माफ वा बागुज़ाश्त छोड़ा गया है. इसलिये मोजूदा व आइन्दा होनेवाले हाकिम, आमिल, मुहिम्मो के मुतसद्दी क्रोडी, जागीरदार व ज़मींदार इस बड़े हुक्म की तामील कर मोज़े मज़कूर को मय ज़मीन ज़र खरीद के उसके कब्ज़े में नसलन बाद नसल रहने देवें. और अबवाब ममनूआ तकालीफ दीवानी व मतालबात सुलतानी व माल वजहात व कुल अवारिज़ात व सरदरखती वहां के बाबत मुज़ाहम न हो कर एतराज़ न करें. और हर साल नया फरमान व परवाना न मांगे व इसके खिलाफ न करें. ताके मारिफत आगाह गुसांई बादशाही महरबानियों से मशकूर हो कर इस सल्तनत के हमेंशा क़याम की दुआ करता रहे. तहरीर तारीख ९ खुरदाद माह इलाही ३९ जलूसी (मुताबिक १५९४ इस्वी).

(५)नाथद्वाराकी गादीके उत्तराधिकारके विवाद छिड़नेपर उदयपुरराज्यके तीन महाराणाओं (A)भीमसिंहजी द्वारा दि. २५/९/१८२६ के दिन, (B)सज्जनसिंहजी द्वारा दि.२५/३/१८७३ तथा (C)उदयपुरराज्यके महाराणाके कार्यालयसे जारी किये गये दि.१०/१०/१९३३ तथा दि.२३/३/१९४८ के दिन घोषित राजाज्ञापत्र :

> (A)"Father Gosain Shri Damodarji Maharaj has departed this life, after which Gosain Gopeshwarji and Shri Krishnraiji having raised despute... you were found to be in the right. No one else has therefore heritable right to your house(estste), you are Malik (owner) of the Shriji's sewa...''. "Our salutation be known... to Shri Shri Shri Dadi Kamala Bahuji Maharaj... Moreover you may do service and worship of Shriji(God) in accordance with your wishes. It is your house. You are the owner. You live with pleasure.''
>
> (ibid.Annexture 5/4-5).

> (B)"... on 8th may 1876 A.D.... Shri Maharajadhiraj Shri Sajjansinghji... and the politica agent... Bahadur of Mewar enthroned on the seat of divine estate of Nathdwara Shri lalbaba Shrigovardhanlalji Maharaj after reminding him for the said seat... Goswami Maharajshri Govardhanlalji Maharaj will enjoy the whole income movable and immovable concerned with the temple of Nathdwara. Now the owner of the said Devasthan Nathdwara and the properties of all kinds movable and immovaaable connected with it will be of the said

Tilkayat Goswami Maharajshri Govardhanlalji alone. The said removed Maharajshri Giridharilalji has no connection what so ever with the said Devasthan Nathdwara. Dt.25th March 1878 A.D...

(ibid. Annexture 15)

(C)"Nathdwara estate [Note: like other 16 estates of jagirdars of the then Mewar State. But nay, never, the main religious seat of Shri Vallabha's sect] has been established by kingdom of Mewar and is dependent on it, in continuity Tilkayt Goswami Govardhanlalji Maharaj absented himself. The immoral character and the conduct against the eternal usage of his son Damodarlalji has not left him a fit person so that he can be appointed in the place of his father as Tilkayat Goswami of Nathdwara... Beside this on the very day Goswami Govardhalalji also after getting consent with the written letter of Damodarlalji presented the following in writing "if the character of Damodarlalji be not good then he should remain aloof from the office of Tilkayat and the seat, and my grandson Govindlalji will be the owner of the seat'.'' "Government of Mewar order no.7676 of 1948: Government are pleased to order that the management of Thikana Nathdwara may be withdrawn with effect from 1st April 1948. The advisory committee appointed during the period of minority of Tilkayat Goswami Shri Govindlalji Maharaj is also dissolved. Sd. S.V.Rammurty Prime Minister''.

(ibid.Annexture 30)

(६)

"The Tilkayat also expressed his concurrence with the proposal made in this report and signed in token of his agreement. It appears that after orders were issued in accordance with the decision of the Tilkayat, the two templs were treated as part of the bigger temple of Srinathji. This is evident by the resolution which was passed at the meeting of the Power of Attorney Holders of the Tilkayat on the same day i.e. 15 October 1956. One of the resolution passed at the said meeting shows that the proposal regareing the Temple and Baithaks owned by His Holiness stating therein that His Holiness had been pleased to transfer the ownership theirof to Srinathji was considered. That proposal along with the list of temples and Baithaks was produced before the Committee. The Tilkayat was present at the meeting and he confirmed the proposal and put his signatuer thereon before the Committee. Thereupon, the Committee accepted the proposal with thanks and instructed the Exicutive Officer to the needful in that behalf. Thus, the Tilkayat propossed to the committee of his Power Of Attorney Holders that the two idols and their Baithaks should be transferred from his private estate to the pincipal temple of Srinathji and that proposal was accepted and therafter the two idols were treated as part of the principal temple. After this transfer was thus formally completed it appears that the Tilkayat was inclined to change his mind and so, in submitting to the committee a list of temples and Baithaks transferred by him to the principal temple of Srinathji he put a heading to the list which showed that the said transfer had been made for management and administration only and was not intended to be an absolute transfer. This was done on or about 23 November 1956.'' (T.G.Vs. State of Raj. A.I.R.1963 SC 1638)

(७)

"The Firman then clearly provides that the Tilkayat Maharaj is merely a Custodian, Manager and Trustee of the said property and finally determines the nature of the office held by Tilkayat Maharaj. He can claim no better and no higher rights after the Firman was issued [Note:1.Even after the Firman ex-Tilkayat in his declaration of the successor clearly intimated to the State of Mewar that his grandson would be *owner of the estat* Nathdwara which the State had also taken care to mention without any rebuke 2.If the Tilkayats, were not de facto as well as de jure owners of the Nathdwara estat, where the temple of Shri Nathji was happen to be situated due historical and accidental condition, why the committee was dissolved ?].

(T.G. Vs. State of Raj. A.I.R.1963 SC 1638 para 34)

(८)

"If Shri Lal Baba of Goswami (Girdharlalji) Maharaj intends to come here, then it is proper now also that permission be got issued from Shriman Goswami Sri Tilkayat Govindlalji Maharaj for touching of feet and toilet (of deity)... Therefore according to old custom, the independence of Sriaman Tilkayat Maharaj should be maintained... In this State, the owner is minor...''

(ibid. The Annexture no.10)

(९)

"(Havelies)... though they are grand and majestik inside, the outside appearance is always attempted to resemble that of a private house. This feature can, however, be easily explained if we recall the fact that during the time when Vitthalnathji with his greate missionary zeal spread the doctrine of Vallabh, Hindu temples were constantly faced with the danger of attack from Aurangzeb... Faced with this immediate problem Vitthalnathji may have started building the temples in the form of Havelies so that outside nobody should knwo that there is temple within''.

(T.G. Vs. State of Raj. SC AIR 1962 para 21).

(१०)जतिपुरामें श्रीनाथजीके अक्षयतृतीयाके दिन पाटोत्सवके बाद फागुन वद सप्तमीके दिन श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके घरमें पुनःपाटोत्सवका प्रमाण :

"When the big temple was completed, at that time Sri Acharyji Mahaprabhu came to vraj... And Srinathji was installed in the newly constructed and big temple by Sri Acharya Mahaprabhu in Smt.1579 on Vashakh Sudi 3 Akshay Tritiya''.

(ibid. the Annexture no.54).

‘‘अथ फाल्गुनोत्सवाः अथ श्रीगोवर्धननाथप्रभुप्राकट्योत्सवः : अथ उत्सवाः निरूप्यन्ते मासि फाल्गुनसंज्ञके फाल्गुन्यसितसप्तम्यां श्रीमद्गोवर्धनाधिपः प्रेमातिषंगबोधार्थं प्रेमातिशयवत्सलः व्याजं लौकिकम् आश्रित्य श्रीविट्ठलगृहे अगमत्. उत्सवस्तु महान् आसीत्. स न शक्यो अस्ति वर्णने तदागमनसञ्जातः श्रीविट्ठलकुले तदा...’’

‘‘अथ फाल्गुनोत्सवविधिः अथ फाल्गुनके मासि सप्तम्यां कृष्णपक्षके श्रीगोवर्धननाथस्य प्रभोः पट्टमहोत्सवः.’’

(उत्सवप्रतान : श्रीव्रजरायकृत संवत्सरोत्सवकल्पलता मठेशश्रीइन्दिरेशकृत संवत्सरोत्सवविधिप्रकाश प्रकाशनवर्ष–१९४९).

(११)

"This conclusion that a temple, which is managed out of the funds collected from the public, is the Maharaja's property may seem startling, but it is non the less inevitable by reason of the peculiar tenets of the sect and the blind faith with which they were adhered to by its followers. The Maharaja having already acquired proprietary rights by what was done by himself and his devotees at the time of, and subsequent to, the construction of the temple, he can not be deprived of them by the mere modern change in the angle of the vision of some of his present devotees. The latter may disallow the tenets if they deem hard or unjust, refuse to pay contribution and even establish an independent public place of worship. But so far as the existing tempel and its property are concerned, they are not at liberty to question the Maharaja's title to them'' (The Judgement given on the date 1st June 1927 in the court of the District Judge, East Khandesh, at Jalgaon. In the Civil Suit no.2 of 1927 by The Distruct Judge N.S.Lokur).

(१२)

(A)"The participation of the member of the public in the Darshan in temple and in the acts of worship or in celebration of festival occasions may be a very important factor to concider in determining, the character of the temple.'' (T.G. Vs. State of Rajasthan para.23).

(B)"There is nothing on record to indicate that in the long past in Patadi, any ruler had put any restriction on the use of temples for Darshan over a fairly long period during which public visited the temples, as if they were thier temples and this establishes thier right... Although there was a sort of private passage running from Darbargadh to the public road, presumably meant for the use of "pardanashin' ladies of royal family, this would not indicate that that the temples were attached to the Darbargadh... The general public and particularly the members of the vaishanva sect had unrestricted right of worship at temples as a matter of course and participated in the the festivals of Hindola and Annakut functions and seva'' (Pratapsinji Vs. Deputy Charity Commissioner Gujrat SC.1987).

(१३)द्रष्टव्य : जुनागढ हवेली मुकदमेके फैसलाके पृष्ठ : १३८-१३९, १४३-१४६, १५६-१५८, १६१-१६२ तथा ३०६. इन पृष्ठोंपर यह भारपूर्वक कहा गया है कि भगवन्मूर्तिके सामने ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेनेपर सर्वसमर्पण कर देनेके बाद भवन या सम्पत्ति पर समर्पणकर्ताके स्वामी होनेका दावा मान्य नहीं हो सकता. यह परन्तु सिद्धान्ततः सत्य हो तो पुष्टिमार्गकी अनुगामी जनता भी ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेती होनेसे उनके भी अपने भवन उद्योग एवं सम्पत्ति पर स्वामित्व निरस्त हो कर मन्दिरकी मूर्तिका स्वामित्व प्रस्थापित होना चाहिये था. केवल पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महाराज ही थोड़े ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेते हैं. अपने घरमें भगवत्सेवा करनेमें सक्षम सभी स्त्री-पुरुष बाल-वृद्ध धनवान्-अधनवान् सभी वर्णजातिके लोग ले सकते हैं और लेते भी हैं.

(१४)

[क]पुष्टिमार्ग अथवा महाराजोनो पंथ पृ.४१६-४१७ : ''आसरे संवत् १९१४ के १५ मां सालमां मुंबइमां भुलेश्वर माहादेवनो छप्पनभोग केटलाक ब्राह्मणो तरफथी करवामां आव्यो हतो. ते वखते ते वखते अे लोकोअे माहादेवनुं छप्पनभोग थाय नही अेवी बाबत लावी ब्राह्मणोपर भारे जुलम गुजारावा प्रयत्न कर्यो. तेथी ब्राह्मणोअे चोराशी नात अेकठी करी अने पोतानी हकीकत

निवेदन करी. ते उपरथी चोराशीनातवाळाओअे करी घणांक श्रीमंतोने समजावी अे लोकोनो जूठो दोर तोडी नाख्यो. ते वखते अेक शिवभक्ते अेओनी उत्पत्ति विषे वात लखी ते आ प्रमाणे छे : ... ते त्रिशूल वडे देवीअे महिषासुर... स्वर्गमांथी नसाडी मुक्या... पछी पृथ्वी उपर लोकोने सिद्धाइ देखाडवा पोतानी मायावडे अग्नि करीने वच्चे बाळक थइने रह्यो तेने लक्ष्मणभट्ट लइ गयो त्यां महोटो थवा पूर्वे पशु हतो माटे तेने पशुमार्ग, पुष्टिमार्ग के जेमां कोइनी मर्यादा नहीं ते चलाव्यो.

(१५)

[ख]''(...) तथा करेलां कृत्यो संबंधी अने मारा स्वाभाविक गुणविषे मारांज करेलां विवेचन संबंधी हाल लखवाथी मने थोडुं; पण मारा संबंधीओने घणुंज नुकसान थाय अने तेवी हो-हो थइ रेहे माटे ते वातो घटते प्रसंगे घटती रीते लखाय तेम लखवाने मुलतवी राखुं छुं''(मारी हकीकत पृ.९४)''आ बधी नबळाईओमां हजी अेक उमेरो थइ शके तेम छे.अे छे नर्मदनी स्त्रीओ संबंधीनी नबळाई. स्त्रीओ साथेना पोताना संबंधो बाबतमां नर्मदने नैतिक बंधनो बहु थोडा नडतां(...) विधवा नर्मदागौरीने परणवानो तेणे जे निर्णय कर्यो. तेमां पण आवी जातनी हिंमतनी जरूर हती. अेक पत्नी जीवती होवा छतां अने ते पण वळी शांत अने सुशील होवा छतां तेणे जे आ पगलुं भर्युं ते साचुं हतुं तेम तो कोई ज कहे(...)आपणे सत्यने साक्षी राखीने नर्मद विषे पण कही शकीअे के तेणे पण व्यभिचार कर्यो ज हतो...('नर्मद' पृ.८७-८८. ले. गुलाबदास ब्रोकर).

(१६)

(A)"India is much riper for Cristianity than Rome and Greece were at the time of St.Paul. The rotten tree has for some time had artificial supports, because its fall have been inconvient for the government... I would like to live for ten years quietly and learn language, try to make friends, and then see whether I was fit to take part in work by means of which the old mischief of Indian priestcraft could be overthrown and way opened for the entrance of simple Cristian teaching, that entrance which finds into every human heart, which is freed from ensnaring powers of priests and from the obscuring influence of philosophers.

(B)"... the ancient Indian relgion of India is doomed - and if Cristianity does not step in whose fault will it be?''

(C)"That religion is still professed by at least a hundred and ten million of human souls... and yet I do not shrink from saying that the religion is dying or dead''.

("Max Muller and his contemporaries' Papers read at seminar held at the RKmission Kolkta 15-15/12/2000 p.207-8<).

(१७)

"...I must draw attention to the fact that I am only second occupant of the Boden Chair, and that its Founder, Colonel Boden, stated most explcitly in his will (dated August 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the Scripture into Sanskrt, so as "to enable his countrymen to proceed in the coversion of the natives of India to Cristian Religion.'... I have made it the chief aim of my professorial life to provide facilities for the translation of our sacred Scripture into Sanskrit... ''

(In Preface to "A Sanskrit-English Dictionary' by Sir Moneir William p.ix-x).

(१८)इस विषयमें कुछसावधानतया अवधेय तथ्य वीर नर्मदने अपनी उत्तरावस्थामें प्रकटकियेजो‘धर्मविचार’नामकग्रन्थमेंखुल कर स्वीकारे हैं :

‘‘सम्प्रदायना देवोने न मानवा पण अेक परमेश्वरने मानवो (...) अेवो ते काळनो वा हतो (...) अे धर्मे वल्लभी सम्प्रदाय उपर कोरटमां जय मेळव्यो. सुधारावाळानुंऐक्य प्रकास्युं ; अने कृष्णदासनी कीर्ति थइ-ख्रिस्तीओअे मोटी वखाणी (पादटिप्पणी : बीजावैष्णव

धर्मवाळा राजी थइ गया वल्लभमार्ग पींखायो जोइ; (...) हिंदुधर्मनी पींखणमां ख्रिस्तीपादरी उमंगी होयज ने डाक्टर विलसन ते कृष्णदासने सारी पेठे सहाय थया हता, कोरटमांपण अनेते पछीपण (... पृ.२८ ...) अमे नथी समजतां के सुधारो महाराजोनो पीछोशामाटेनथीमुकतो ?(...) स्वामी दयानंदपण तेना उपर उलट्यो हतो.शुं बीजा पंथो नथी सुधारानी सळवळती जीभ ने चळवळती लेखणीनेमाटे(...) ?(शुं बीजा पंथोमां दुराचार अनाचार छळप्रपंच नथी ? ने अेनुं पाप विशेष के वल्लभपंथना जार कर्मनुं ? यमराजा के तेनो चित्रगुप्त जाणे (३५...) ! (सुधारावाळा)सघळाअे स्वधर्मथी अजाण, सघळाअे परलोक विषयनी परंपरानो अनादर करवावाळा ने सघळाअे स्वदेशी बंधुओनुं संसारी कल्याण करवा कोडीला हता.ख्रिस्ती बैबल नी नीति उपर मोहित(... पृ.४९...)पंडित दयानंद जे उच्छेदक सुधाराने वेदधर्मनुं,वेदना देवताने न माने, अधिकारपरत्वे धर्मबोधने न माने ते मूर्तिने केम माने ?पण पृच्छा निकळे के पदार्थ विद्याना शोधकार्य अमणां जे बधाछे बधा वेदमां कहेलाछे तेम ते कहे छे तो मूर्तिपूजानो विषय वेदमां केम नहि ? पछी खंडने के मंडने ? वळी मूर्तिपूजा नहि त्यारे बीजा कर्मनी चेष्टा शामाटे ? ग्यास पाणी बरफ अे त्रण स्थिति जळ; मानसिक वाचिककायिकअे त्रण प्रकार कर्मना; तेम संकल्पस्फुरण छायास्वरूप ने प्रकटस्वरूप केम नहि ? (...)ईश्वरनुं सर्वव्यापीपणुं मंत्रदैवत ने प्राणप्रतिष्ठा, भक्तिभावनानी सिद्धि माने ते मूर्तिपूजाने खोटी नहि क्हे(...) पवित्राई तथा स्वच्छताथी आरोग्य संबंधी मोटो सुधारो आर्य पोताने राखी रह्यो छे ज (...) केटलाक फेरफार थवा जोइअे; पण वळी परधर्मीना सहवासथी केटलो बगाड थाय छे (पादटिप्पणी : अे आपणेसारी पेठे जाण्युं छे के,हवे सुधारावाळा परधर्मी विचारथी केटलो बगाड थयो छेते.पराया विचारे लोकने संशयी भ्रमिष्ठ कीधा छे तेने ठेकाणे आणवाने केटलो श्रम पहोंचे छे अने मोहने ठामे धिक्कार अणावता केटलीवार लागशे ?- अेम थया विना स्वधर्मनुं तेजबळ वधनारुं नथी (अे विषयमां पूर्वजोनी केवी पुख्त बुद्धि !पृ.६४).

विषयानुक्रमणिका

विषयांकाः **पृष्ठांकाः**

सिद्धान्त वचनावली

(१) सेवोपदेशदीक्षा १२४
(२) सेवास्वरूप १३४
(३) सेवाप्रदर्शन १४०
(४) सेवाप्रयोजन १४३
(५) सेवास्थल १४६
(६) सेव्यस्वरूप १५०
(७) सेवार्थ-आजीविका १५७
(८) सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक १५९
(९) सेवोपदेष्टा १६३
(१०) भागवतकथा १७६
(११) स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसाद-ग्रहण १७९
(१२) तीर्थपर्यटन १८१
(१३) आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार १८३

परिशिष्ट

(१) शरणागति १८६
(२) अमृतवचनावली १९१
(३) पुष्टि अस्मिता २१३
(४) पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाका संक्षिप्त वृत्त २१५

।।श्रीहरिः।।

।।प्राक्कथन।।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रवर्तित पुष्टिसम्प्रदायमें हमारी – उपदेशक तथा अनुगामी जनोंकी – आज सबसें बडी कोई समस्या है तो वह यही कि यदि हम अपने संप्रदायके प्रवर्तक-प्रसारक पूर्वाचार्योंके द्वारा लिखित ग्रन्थोंको प्रमाण मानते हैं तो जो कुछ आज महाप्रभुके नामपर चल रहा है वह नितान्त सिद्धान्तवैपरीत्य ही है; और यदि जो कुछ चल रहा है उसे ही आदर्श माननेके मोहके कारण हम उसे छोडना न चाहते हों तो ग्रन्थोपदिष्ट सिद्धान्त सर्वथा निरर्थक, असंगत एवं अनुयायिजनोंके समक्ष अनुच्चारणीय ही हो जाते हैं. इस दुविधाको दूर करनेको जो स्पष्टीकरण दिये जाते हैं उनमेंके परिगणित मुद्दे प्रायः अधोनिर्दिष्ट हैं :

(१) महाप्रभुके सिद्धान्त क्या हम ही जानते हैं – हमारे पूर्वजोंको क्या महाप्रभुके वास्तविक सिद्धान्तोंका ज्ञान नहीं था ?

(२) आजसे पाँचसौ वर्ष पूर्वके समाज देश और काल को देखकर महाप्रभुने अपने सिद्धान्त घड़े थे. आज तो वह स्थिति ही नहीं रही है; और कई समस्याएँ नई भी अब हमारे ही सामने उठ खडी हुई हैं. समाज – देश – कालके परिवर्तित परिप्रेक्ष्यमें अब उभरी समस्याओंका व्यावहारिक निराकरण किये बिना केवल सैद्धान्तिक जड़ाग्रह रखना सारे संप्रदायको उच्छिन्न कर देनेकी नादानी होगी !

(३) स्वमार्गीय सिद्धान्त तो सभी स्वसंप्रदायिओंको मान्य होने ही चाहियें. परन्तु देशके धर्मनिरपेक्ष संविधान तथा कराधानों के भीषण प्रावधानोंसे बचनेके लिये कुछ बातें स्वसिद्धान्तोंके विपरीत भी अपनानी पड़ी हैं. इस विवशताका सिद्धान्त-जड़ाग्रहिओंके पास भी क्या समाधान है ?

(४) जो लोग सिद्धान्तवचनोंके नामपर बावेला मचा रहे हैं वे स्वयं भी सर्वांशमें सिद्धान्तोंका पालन कहाँ कर रहे हैं ?

(५) सदिओंसे जन-जनमें व्याप्त किसी भी संप्रदायसे संबन्धित सभी धार्मिक निर्णय केवल लिखित ग्रन्थोंके आधारपर लिये नही जा सकते, जीवित परंपराओंका भी अपना कोई महत्त्व होता ही है.

(६) स्वमार्गीय सिद्धान्त तो सभीको सर्वदा मान्य होने ही चाहिये परन्तु

ग्रन्थोक्त कई सिद्धान्त उच्चकक्षाके अधिकारिओंके लिये प्रकट किये गये हैं. आज ऐसी उच्चकक्षाके अधिकारी जीव है कहाँ! निम्नकक्षाके जैसे अधिकारी आज दृष्टिगत होते हैं उनके लिये परंपरया जैसा प्रकार प्रचलित है वह ठीक ही है.

(७) आजकी प्राथमिक आवश्यकता सम्प्रदायमें रचनात्मक कार्यक्रमको अपनानेकी है, न कि कलहपूर्ण सैद्धान्तिक विवादोंमें सम्प्रदायको उलझानेकी.

(८) अपना मार्ग तो प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित नहीं. यह मार्ग तो परमात्माकी प्रमाणातीत पुष्टिशक्तिपर अवलम्बित है. सार्वजनिक मन्दिर, अतः, यदि बन्द किये जाते हैं तो भोग-राग-शृंगारद्वारा पुष्टिपुरुषोत्तमको लाड़ लड़ानेकी सेवाप्रणालिका ही लुप्त हो जायेगी. सार्वजनिक मन्दिर यदि बन्द कर दिये जाते हैं तो अपने मार्गके वैष्णव इतर मार्गमें प्रविष्ट हो जायेंगे.

(९) सिद्धान्तापसिद्धान्तकी चर्चा सार्वजनिक रूपसे नहीं करनी चाहिये. अन्यथा मूर्ख अनुगामिजनता स्वमार्गीय आचार्योंके प्रति आदरविहीन हो जायगी. अतः ऐसी चर्चा गोस्वामी आचार्योंको बंद दरवाजेमें ही करनी चाहिये.

(१०) सिद्धान्त तो सभी मान्य होने ही चाहिये परंतु आजीविकाका दूसरा कोई सुलभ उपाय मिल नहीं जाता तब तक सार्वजनिक मन्दिरोंमें भगवत्सेवाका आजीविकार्थ प्रदर्शन रोकनेका दुराग्रह व्यावहारिक कैसे माना जा सकता है?

(११) हमें जो कुछ करना है हम करेंगे- किसीको भी हमारी आलोचना करनेका क्या अधिकार है!

देवताशास्त्रमें रुद्रकी संख्या ग्यारह मानी जाती है और हमें लगता है कि ये एकादश रुद्र ही आजकी तारीखमें वाल्लभसम्प्रदायके संहरणकी रौद्रलीला प्रकट कर रहे हैं.

इन रौद्र विधानोंके संक्षिप्त और शान्त समाधान हमें खोजने होंगे. हम यह दावा तो नहीं कर सकते कि हमारा यह प्रयास सभीके लिये सन्तोषकारी ही होगा. फिर भी इन रौद्र विधानोंके प्रति हमारी शान्त वैचारिक प्रतिक्रियाको शब्दोमें अभिव्यक्त करना ही इस प्राक्कथनका मुख्य प्रयोजन है:

(१) हमारे पूर्वज-बापदादा महाप्रभुके सिद्धान्तोंको जानते थे या नहीं यह, उनके दिवंगत होनेके बाद, केवल उनके द्वारा लिखित ग्रन्थोंके आधारपर ही जाना

जा सकता है. कोई कारण नहीं है कि पूर्वजोंकी समझकी सुध सिर्फ पिता या पितामह की समझ तक ही लेनी और उससे ऊपर नहीं. महाप्रभुसे प्रारंभ कर परवर्ती ग्रन्थकारोंके वचन प्रस्तुत वचनावलीमें संकलित हैं ही.

(२) शास्त्रतः प्रामाणिक कई बातें देशकालादिके परिवर्तनके कारण कई बार अशक्य बन जाती हैं. परिवर्तित देश-कालमें उभरी नई समस्याओंको सुलझानेके लिये नये समाधान भी खोजने ही पड़ते हैं. उन समाधानोंको, परन्तु, किसी दूसरेके नामपर थोप देना नीतिमत्ता नहीं. महाप्रभुके सिद्धान्तोंका अनुसरण, यदि, अशक्य हो गया हो तो नया मार्ग अवश्य प्रवर्तित किया जा सकता है. उस नये मार्गको, परन्तु, महाप्रभुके नामपर हठात् थोप नहीं देना चाहिये.

(३) हाल ही में राजस्थानके उच्चन्यायालयने वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तोंकी सुविशद समीक्षा करते हुवे, एक पुष्टिमार्गीय मन्दिरको 'सार्वजनिक-प्रन्यास' घोषित करनेवाली सारी सरकारी कारवाईओंको निरस्त कर दिया है. अतः इस लाचारीके बहानेमें अब कोई दम नहीं रहा. जो सेवास्थल सार्वजनिक न्यास घोषित हो चुके है वहाँ भी अपसिद्धान्तके मोहको छोड़ कर: तनुवित्तजा सेवाके व्यावसायिक विभाजनपर; और नित्यसेवा-मनोरथों-के सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शनपर, यथासम्भव सहसा अथवा शनैः-शनैः, अंकुश लगाना ही चाहिये. इस तरहकी कारवाईमें यदि कोई हस्तक्षेप करता है तो सिद्धान्तोंके प्रकाशमें न्यायालयोंसे पुनर्विचार भी करवाया जा सकता है. इस देशमें इतने सारे करोडपति धनिक हैं तो कराधानोंके भीषण प्रावधानोंसे बचनेका कोई न कोई उपाय वे भी तो अपनाते ही होंगे! कराधानके भयसे किसी करोडपतिने अपना घर सार्वजनिक धर्मशालाके रूपमें घोषित किया हो ऐसा सुननेमें तो नहीं आया. तब भगवत्सेवार्थ धार्मिक अनिवार्यतावाले निजी घरको सार्वजनिक मन्दिरके रूपमें क्यों विकृत किया जाता है?

(४) हमारा दावा न तो यह है कि इस सम्प्रदायमें केवल हम ही सभी सिद्धान्तोंका पालन कर रहे हैं और न हम किसी व्यक्तिविशेषपर ऐसा आरोप ही लगाना चाहते हैं कि वह सिद्धान्तोंको तोड़ रहा है. हमारा अभिप्राय तो केवल यही है कि हमसे या अन्य किसीसे निजसौभाग्यवश स्वसिद्धान्त पाले जा सकतें हो तब भी वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्त वही रहेंगे जो महाप्रभु प्रभृति पूर्वाचार्योंने निर्धारित किये हैं. हमसे या अन्य किसीसे निजदौर्भाग्यवश न भी पाले जा सकतें हो तब भी सिद्धान्त तो वही रहेंगे जो पूर्वाचार्योंने निर्धारित किये हैं. निजसामर्थ्यके

आधारपर न तो सिद्धान्त प्रस्थापित हो सकते हैं और न निज-असामर्थ्यके आधारपर प्रस्थापित सिद्धान्त विस्थापित ही हो सकते हैं.

(५) हम भी जीवित परंपराके महत्त्वका अस्वीकार नहीं करते परन्तु शर्त उसमें यही है की कोई भी परंपरा मूलाचार्योंके वचनोंसे विरुद्ध नहीं होनी चाहिये. पत्थर या धातुसे बनी जड़ मानवमूर्ति उतनी सरलतासे रुग्ण नहीं हो पाती जितना कि जीवित मानव-देह. अतः जो कुछ जीवित है उसका स्वस्थ होना भी आवश्यक है ही.

(६) उच्चाधिकार या निम्नाधिकार को परखनेकी वाचनिकी व्यवस्था यदि उपलब्ध न होती तो अपनी कल्पनाको या स्वार्थप्रेरित सुविधाको इस विषयमें प्रमाण माना जा सकता था. सेवा-कथा-प्रपत्तिके भेदसे जब वाचनिकी अधिकारव्यवस्था उपलब्ध है ही ऐसी स्थितिमें अपसिद्धान्तके अनुकरणकी ही क्या आवश्यकता है ?

(७) किसी भी रचनात्मक कार्यक्रमको एक धार्मिक कार्यक्रमके रूपमें समाजमें प्रस्तुत करना हो तो उसका धर्मशास्त्राभिमत होना अनिवार्य है ही. अन्यथा रचनात्मक कार्यक्रमके नामपर शराब या जुए के अड्डे तो खोले नहीं जा सकते !

(८) अपना मार्ग यदि प्रमाणमूलक सिद्धान्तोंकी अपेक्षा रखता ही न हो तो पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें नमाज़ क्यों नहीं पढ़ी जा सकती या बकरेकी बली क्यों नहीं चढ़ाई जा सकती ? यदि किसी सैद्धान्तिक भेदके कारण यह शक्य न होतो सिद्ध हो जाता है कि सकल प्रमाणातीत पुष्टिशक्ति ही केवल नियामिका नहीं है. अन्यथा अनेकविध अकाण्डताण्डवोंको भी अनुमति देनी ही पडेगी. भोग-राग-शृंगारका सेवामें विनियोग भावात्मक होना चाहिये या भावाडम्बरात्मक यह भी निर्धारित करना चाहिये. जो जनता धर्म न चाहती हो और आडम्बर ही चाहती हो वह तो पुष्टिमार्गको छोड़कर अन्य मार्गमें प्रविष्ट हो जाय इसमें पुष्टिमार्गका श्रेय ही मानना चाहिये.

(९) सिद्धान्त-वैपरीत्यका अनुष्ठान जब खुले द्वारोंमें निःशंक हो रहा है तब सिद्धान्तचर्चाको बन्ध द्वारोंमें करनेकी तुक क्या रह जाती है ? अनुगामी जनताका मूर्ख होना उपदेशक महानुभावोंके उत्तरदायित्वविहीन अधिकारोपभोग अथवा असामर्थ्य का द्योतक है.

(१०) स्वमार्गीय सिद्धान्तोंके प्रति अपनी निष्ठापूर्ण स्वीकृति आज जनताके समक्ष घोषित कर देनी चाहिये. कल स्वधर्मसे अविरुद्ध आजीविकाके उपायोंको खोजना कठिन कार्य नहीं रह जायेगा.

(११) जिसे जो कुछ करना है वह निःसंकोच तथा सहर्ष करता रहे- हमें जो कुछ करना है वह तो अपने सिद्धान्तोंका केवल उद्घोष ही है. किसीको टोकनेका न हम अपना अधिकार मानते हैं; और न हमें भी टोकनेका अन्य किसीका अधिकार स्वीकारनें तैयार हैं.

व्यक्ति- चाहे चिकित्सार्थी हो या चिकित्सक - के रुग्ण होनेपर चिकित्सालयमें उसकी चिकित्सा शक्य है. चिकित्सालय ही, परन्तु कभी, रुग्ण हो जाय तो कहाँ जाना ! इसी तरह उपदेशक या अनुगामी व्यक्तिका धर्ममार्गसे विचलित हो जाना एक वैयक्तिक स्खलनके रूपमें गिना जा सकता है. परन्तु एक धर्मसम्प्रदायमें उसके अपने धार्मिक सिद्धान्तोंसे विरुद्ध प्रकारका सार्वजनिक धर्मानुष्ठान (!) कथमपि वैयक्तिक स्खलन माना नहीं जा सकता. हम केवल इसी सन्दर्भमें सिद्धान्तोंका उद्घोष करना चाहते हैं.

इस स्पष्टीकरणके साथ एक स्पष्टीकरण यह भी आवश्यक है कि प्रस्तुत वचनावलीके अनुवादको विचारार्थ प्रकाशित करवानेमें सहयोग प्रदान करनेवाले सभी महानुभावोंका हमारे द्वारा प्रस्तुत भावानुवादसे सर्वांशमें सहमत होना अनिवार्य नहीं है, तथापि सम्प्रदायमें व्याप्त अज्ञान एवं अविचार की मोहनिद्राको तोडनेमें पूर्वाचार्योंके वचनोंका प्रकाश यदि सफल होता हो तो हो जाय, बस इसी सदाशयसे हमें सभीका सहयोग प्राप्त हुआ है. एतदर्थ हम सभी सहयोगी प्रकाशक महानुभावोंके आभारी हैं.

गोस्वामी श्याम मनोहर
२६।१२।९१
मुम्बई
संयुक्तप्रकाशन

।।श्रीहरिः।।

चि.गो श्रीव्रजप्रियजी, श्रीनीरजकुमारजी, श्रीमनोजजी, श्रीयोगेशजी, श्रीशरदजी, श्रीपीयूषजी, श्रीपंकजजी, श्रीमिलनजी, श्रीविट्ठलजी, श्रीगोपेशजी, श्रीभूषणजी, श्रीशरदजी महोदय,

आप सभी स्वमार्गहितैषीन्के द्वारा प्रेषित पत्र मिल्यो; तथा जो सिद्धान्तवचनावली मेने आप लोगनकूं दी हती वो भी प्रत्रके साथ संलग्नतया प्राप्त भई. स्वधर्मनिष्ठारूप साहसके साथ आपने ये वचनावली सभी गोस्वामीन्कूं भेजी याके लिये, या पत्रमें और कोई भी बात लिखवेके पहले, मैं हृदयसूँ भूरिशः अभिनन्दन आप सभीन्कूं देनो चाहुंगो ! आप सभीनकी या चिरस्पृहणीय पहलके लिये अपनो सम्प्रदाय आप सभी नवयुवकनको चिरकृतज्ञ रहेगो !!

यदि अपने भीतर श्रीमहाप्रभून्के वंशज होवेको लेशमात्र भी आत्मगौरव शेष होय तो; और यदि अपने भीतर या सम्प्रदायमें प्रामाणिक स्वधर्मोपदेश प्रदान करवेके अपने उत्तरदायित्वको लेशमात्र भी सद्भाव शेष होय तो, वचनावलीमें संकलित वचनन्को अर्थ; कोई भी तरहकी आंखमिचौनीकी बाललीला करे बिना सच्ची स्वधर्मनिष्ठा एवं सत्यनिष्ठा सू, अपनेकूं स्वमार्गानुगामीनके सामने प्रकटतया स्वीकारनो ही पड़ेगो. यासू मोकू नहीं लगे है कि कोई भी तरहके शास्त्रार्थ या वाद-जल्प-वितण्डा की या बारेंमें कोई भी आवश्यकता है.

यथासंभव घोषित कार्यक्रमसूं पूर्व ही या वचनावलीमें उद्धृत वचननके हिन्दी-गुजरातीमें प्रकाशित भावानुवादको वितरण, समीक्षार्थ, मैं सभी सम्बद्ध जनन्के बीच करवे जा रह्यो हुँ. वा अनुवादमें मेरी त्रुटी क्या है ये यदि कोई मोकूँ समझावेगो तो सचमुचमें मोकूँ निरतिशय प्रसन्नता होयगी. यदि त्रुटिनिर्देश करनो कोईकू अभिप्रेत नहीं होय तो इन वचननको वा महाशयके अनुसार सच्चो भावार्थ क्या हे ये वाकू दि.१०,११,१२ जनवरी, ९२के दिन होयवेवाली सभामें वितरणके लिये लिखित या वीडिओ-ओडिओ रिकॉर्डिंगके लिये मौखिकरूपसू प्रस्तुत करनो चहिये. याके बिना कोई भी निष्कर्ष निकलनो संभव नहीं हे. अतः अब मतभेद रखनेवाले जो भी महानुभाव होय उनकूँ या वचनावलीके स्वाभिप्रेत भावार्थकू प्रकटतया घोषित करवेके उत्तरदायित्वसू कतरानो नहीं चहिये. पर अब भी यदि कतरावेंगे तो में उनकूँ भरी सभामें, यदि मेरी धारणाके अनुसार वे पठित हें तो, मेरे अनुवादसूँ सहमत घोषित कर दूँगो. अन्यथा मेरी धारणाके अनुसार अपठित होयवेपे भविष्यमें सिद्धान्तविषयक निर्णयार्थ अयोग्य व्यक्ति घोषित कर दूँगो.

आशा हे कि अब तो मतभेद रखनेवाले महानुभाव धर्माचार्योचित स्वधर्मनिर्धारणसाहस बटोरके सामने आयेंगे. अन्यथा रोते बच्चानकू चुप करवेकूँ उनके मूँहमें शहद लगाके जैसे रबरकी टोंटी रखी जाय वैसी ही हास्यास्पद स्थिति प्रकट हो जायेगी !

किमधिकं सुज्ञेषु ?

भवदीय
(गोस्वामी श्याम मनोहर)

।।श्रीहरिः।।

।।वचनावली।।

(हिन्दी-भाषाभावानुवाद-सहिता)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरःप्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति।।
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा।।
श्रीवाक्पतेर्वागनुगामिनां वै सद्यःस्वकर्तव्यविनिश्चयाय।
कृतो मया तद्वचनानुवादः पुष्पोपहारोपम एष नूनम्।
स्वलाभपूजार्थपरायणानां तदीयसिद्धान्तविलोपकानाम्।
भवेत् खलानां खलु मस्तकेषु पदप्रहारोपम एषएव।।

१ सेवोपदेशदीक्षा-विषयकमूलवचनानि

(क)

परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः; किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह-

कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्।।

(त.दी.नि.२।२२७)

'कृष्णसेवापरम्'इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति **'सेवापर'**एव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति **'दम्भादिरहितम्'**इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह **'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्'**इति. **'जिज्ञासु'** नतु कौतुकाद्याविष्टः. 'भजनं' -सर्वभावेन- तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या.

(त.दी.नि.प्र.२।२२७)

'वीक्ष्य' इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. 'ईक्ष'दर्शनाङ्कनयोः, 'वि'ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे-''**गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम्**'' इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्...तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.

(त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्ग:२।२२७)

(हिन्द-भाषा-भावानुवादौ)

(क) यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हीके लिए फलदायक बन पाता है. किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं-

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.(त.दी.नि.२।२२७)

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भी भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त (दंभ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा) के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवा भी जब

यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदय में कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्वक भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है.(त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें ‘**वीक्ष्य**’पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्यमार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. ‘ईक्ष’ का अर्थ होता है: ‘देखना-अंकित करना’. उसके साथ ‘वि’उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभाँति परिक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहाँ गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अंधा दूसरे अंधेका अनुसरण करता हो जायेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे ! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही ‘जलभेद’ ग्रन्थ प्रकट किया है... इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कौन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये.(त.दी.नि.प्र.आवरणभंग:२।२२७).

(ख)

माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत्।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादराद्।।
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः।।

(साधनदीपिका.९-११).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) भगवन्माहात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहाँ है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभाँति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये.(सा.दी.९-११).

(ग)

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः (जलभेद.४).

ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे “**कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता**” इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, “**मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते**” इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः, तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत्, सत्यम्. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्... एवञ्च च यत् प्रभुचरणैः उक्तं “**विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति**” इति; तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्. लोभाद् अविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति इति अर्थो ज्ञेयः.

(जलभेद.श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.विवृति ४).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) घरगृहस्थीके निर्वाहार्थ भगवद्गुणगान करनेवालोंके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथा संसारासक्तिको बढानेवाली होती है.(ज.भे.४).

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके श्रीकृष्णजन्मखंडमें

‘‘कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता’’ ब्रह्माजीको कहे गये इस पृथ्वीके वचनके आधारपर; तथा **‘‘मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते’’** श्रीनन्दको कहे गये इस भगवद्वचनके आधारपर भी, भगवन्नामके विक्रयको दोषरूप माना गया है. ऐसी स्थितिमें गुरुभेंट धरनेवाले शिष्यको भी भगवन्नामोपदेश दोषरूप सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शिष्यद्वारा रखी गयी भेंटको भी स्वीकारना एक तरहसे नामविक्रय ही तो हुवा! यह बात तो ठीक ही है फिरभी गुरुत्व ब्राह्मणोंकी सहज एवं शास्त्रानुमोदित वृत्ति है, अतः उसे त्याज्य नहीं मानी जा सकती... इसी तरह जो बात प्रभुचरणने कही है **‘‘पात्रापात्रका विचार करके ही कुछ दान करना चाहिये, श्रीकृष्णके नामके दानमें तो इसकी आवश्यकता और अधिक है, क्योंकि बिना विचारे उसका दान करने पर स्वयं नामदानकर्ताका ही विनाश हो जाता है’’**, अतः अपने और शिष्यके उद्धारकी केवल भावनावश नामदीक्षा प्रदान करनेपर दोष नहीं लगता. अन्यथा लोभके कारण पात्रापात्रके विचार किये बिना नामदीक्षा प्रदान करना एक प्रकारका नामविक्रय ही है, जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बन जाता है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत ज.भे.विवृति ४).

(घ)

सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यप्रकारम् आह–

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम्।।

‘तदभावे’ इति. **‘क्वचिद्’**– देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते, **‘हरेः मूर्ति कृत्वा’** भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः, यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति.

(त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः **‘सच’**इत्यादि. **‘तदभावे’**इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे **‘‘यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथग्’’** इति आभासत्वाभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्त-मौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्.

(त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है–

ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको अपना आराध्य बना कर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानका रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते हैं.

किसी ऐसे देशमें कि जहाँ सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहाँ एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान् कलियुगके कारण उपलब्ध न होता तो क्या करना चाहिये इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये, ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है, उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें **‘‘यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्’’** इस वचनमें निन्दित धर्माभासता-पाषण्डका आरोप नहीं लगता; और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी

किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर कुछ पूछ-जान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२२८).

२ सेवास्वरूप

(क)

एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः **‘चेत्’** इति-

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।

उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः **‘तद्’** इति. वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधि-स्वसर्वस्व-निवेदन-पूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः.

(श्रीप्रभुचरणकृत-सिद्धान्तमुक्तावली-विवृत्ति २).

तद् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्त्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति.

(सि.मु.वि.प्रकाश.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) कृष्णसेवाका यही स्वरूप है ऐसा **‘चेतस्...’**द्वारा श्रीमहाप्रभु समझाना चाहते हैं-

चेतस् = चित्तका कृष्णमें प्रवण = तन्मय होना ही सेवा है. वह चित्तकी कृष्णप्रवणतारूप कृष्णसेवा सिद्ध होती है तनुवित्तजा सेवा करनेसे.

चित्तको कृष्णप्रवण बनानेके साधन अन्य (=तनु और वित्त) हैं ऐसा निरूपण कर रहे हैं ‘तद्...’इत्यादि. एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह भी हो सकता है कि वह सेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नही सकता. इस अपने अभिप्रायको प्रकट करनेको श्रीमहाप्रभुने **‘तनुवित्तजा’** रूप समस्तपदका प्रयोग किया है. इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी तरहके लौकिक भावोंके आधीन हुवे बिना अपने सर्वस्वका निवेदन भगवान्‌को करके, अपने देहका भी भगवदर्थ विनियोग करनेपर, जब भगवत्प्रेम प्रकट होता है तब कहीं जाकर चित्त कृष्णप्रवण हो पाता है (सि.मु.वि.२).

वह आभ्यन्तरभक्तिसाधक बाह्योपाय, यदि किसी अन्य तनुजा सेवाके कर्ताको वेतन-तनुजासेवाके मूल्य-के रूपमें वित्त देकर, कराया जाता है तब वह वित्तजा सेवा हुई, जो चित्तको राजसभाव = दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नही बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन तनुजा सेवाके मूल्यके रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजा सेवा की जाती है, तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नही मिलता वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नही मिलता (सि.मु.वि.प्रका २).

(ख)

‘‘यद् यद् इष्टतमं लोके... तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्’’. भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्...सन्मार्गोपार्जितं, न अन्येषां भागरूपम्... इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्.

(त.दी.नि.प्र.२।२३६).

ननु भवतु एवं तथापि भगवति यत् समर्पणीयं तद् उत्तममेव समर्पणीयमिति तदर्थम्ह्नह्नअधिकमपि लोकानुरञ्जनाद्यर्थं प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं च... लौकिकचातुर्यप्राप्तौ पुनः बाहिर्मुख्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्त्यर्थम् आहुः - **‘भगवद्’**इत्यादि. तथाच एवम् अक्लिष्टस्य सन्मार्गेण उपार्जने तावद् अपि तन्न भविष्यति इति अर्थः एतदेव बोधयितुम् आहुः **‘इतर’** इत्यादि.

(त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) ‘‘जो कुछ लोकमें इष्टतम है... उसे कृष्णकी सेवामें लगाना चाहिये.’’

भगवत्सेवामें भी क्लेशयुक्त सामग्रीका समर्पण नहीं करना चाहिये…सेवामें समर्पित की जानेवाली सामग्री भी सन्मार्गसे उपार्जित की गई होनी चाहिये, ऐसी कि जिसमें किसी दूसरेका हिस्सा न हो… अन्य प्रकारसे उपार्जित सामग्रीके सेवामें विनियोगके निषेधार्थ यह बात कही गई है (त.दी.नि.प्र.२।२३६).

यहाँ ऐसी शंका उठती है कि भगवत्सेवामें जो कोई वस्तु या सामग्री भगवानको समर्पित करनी है वह उत्तम तो होनी ही चाहिये तदर्थ; इसी तरह लोगोंको खुश करनेको अथवा प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिये भी अधिक भी समर्पित करनेके लिये, कुछ लौकिक चतुराई तो अपनानी ही होगी. इस तरह फिर बर्हिमुख हो जानेकी संभावना पैदा हो जाती है. इस शंकित बहिर्मुखताकी निवृत्तिके उपायको समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने ‘**भगवत्…**’ पदका प्रयोग किया है. इस तरह क्लेशरहित वस्तु भी सन्मार्गसे उपार्जित हो तो प्रायः बहिर्मुखता पनप नहीं पायेगी ऐसा आशय है. यही बात समझानेके लिये श्रीमहाप्रभुने ‘**अन्य…**’पदका प्रयोग किया है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२।२३६).

(ग)

स्वमार्गीयप्रकारोऽयं सर्वोपि हि निरूप्यते।
गृहीत्वा नाम शरणं गत्वा सर्वं समर्प्य च।।
सेवासार्थकतासिद्ध्यै देहादीनां तथा पुनः।
अन्यत्राविनियोगाय क्रियतां तनुवित्तजा।।

(श्रीहरिरायजीकृत-स्वमार्गीय-शरण-समर्पण-सेवा-निरूपणम्.१-३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) स्वमार्गीय साधनाका यह सारा प्रकार निरूपित किया जाता है: नामग्रहण करके, शरणदीक्षा लेकर; और सब कुछ समर्पित करके सेवा तथा देहादि की सार्थकता सिद्ध करनेको जिससे देहादिका कहीं अन्यत्र विनियोग न हो जाय, तनुवित्तजा सेवा करनी चाहिये (स्व.श.स.से.नि.१-३).

(घ)

यस्तु स्वमार्गीय-सेवास्वरूप-ज्ञानाभाववान् मार्गरीत्या श्रद्धया यथाकथञ्चित् स्वरूपसेवां चेत् करोतीति तत्सेवायाः केवलभौतिकत्वात् ‘‘**लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्**’’ इति न्यायस्य जातत्वात् तदा सर्वथा संक्लिष्टो भवति, तदा भजनत्यागः.(स्वरूपतारतम्यनिर्णय).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) जिसे स्वमार्गीय सेवा-स्वरूपका ज्ञान न हो ऐसा व्यक्ति जब इस मार्गकी मात्र रूढिके अनुसार, श्रद्धापूर्वक ही सही, यथाकथंचित् स्वरूपसेवा करता है तो ऐसी सेवा केवल आधिभौतिक सेवा होती है अतः ‘‘**लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम्…**’’ न्यायके अनुसार ऐसी सेवा करनेवाला क्लेश ही पाता है. ऐसी स्थितिमें भजन छोड देना चाहिये (स्व.ता.नि.).

३ सेवाप्रदर्शन

(क)

भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत् इत्येतदाशयेन ते धर्मा उक्ताः. गोपने मुख्यं हेतुम् आह ‘**अन्वयाद्**’ इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र ‘‘**ल्यब्लोपे पञ्चमी**’’ एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभो प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिराविष्करणं भवति, प्राकट्ये तु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्.

(अणुभाष्य.३।४।४९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिंगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोका भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते अनुभूत हों तो भावोंका

बाहर आविष्करण = प्रदर्शन सम्भव नहीं है (अणुभाष्य ३।४।४९).

(ख)

स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्.

(साधनदीपिका.१०८)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसौंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये (साधनदीपिका.१०८)

(ग)

३८तमो अपराधः = गुरुदेवतयोः गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं = श्वानयोनित्रयम्.

११अपराधः = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं = वार्षिकसेवा-निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नानम्.

३६तमो अपराधः = भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम् = उपचारनैष्फलम् प्रायश्चित्तं = पञ्चगुणित-नैवैद्य-दानम्.

३५तमो अपराधः = गुर्वाज्ञोल्लङ्घनम्. फलम् = असिपत्रादि-घोर-नरक-पातः. प्रायश्चितम् = वैष्णव-गुरु-प्रसादनम्.

(श्रीहरिरायजी-विरचित-षट्पष्ठिरपराधस्तत्फलानि-प्रायश्चित्तानि-च).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) ३८वां अपराध : गुरु या दैवत (=श्रीठाकुरजी सम्बन्धी बातों) के गुप्त-रहस्य-को प्रकट करना. फल : तीन जन्मों तक श्वानयोनि.

११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित : श्रीठाकुरजीको पंचामृतसे स्नान कराना.

३६वां अपराध : श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे ('भेट', 'सामग्री', 'पोथीसेवा' या 'न्योछावर') मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुने नैवेद्यका प्रभुको दान (नहीं कि समर्पण !) करना.

३५वां अपराध : गुरु-श्रीमहाप्रभु आदि-की आज्ञाका उल्लंघन करना. फल : असिपत्रादि नामोंवाले घोर नरकोंमें पतन. प्रायश्चित : वैष्णव और गुरु को प्रसन्न करना (श्रीहरि.वि.षट्.).

४ सेवाप्रयोजन

(क)

न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः ।।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा।
सेव्यः सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः ।।

(शिक्षापद्यानि)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) न तो श्रीकृष्ण लौकिक प्रभु है और नही वे कभी लौकिक भावका अङ्गीकार ही करते हैं. हमारा भाव तो श्रीकृष्णके बारेमें यही है कि श्रीकृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं, ऐहिक भी और पारलौकिक भी. इसलिये सर्वभावसे सर्वथा सेव्य वे गोपीश ही हैं. वे ही हमारा सब कुछ करेंगे (शिक्षापद्य).

(ख)

''लौकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा।''

(सि.मु.१६).

ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः ? इत्यत आहुः **'लोकार्थी'** इति. 'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं

क्लेशरूपमेव, अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणादिति ‘**सर्वथा**’ इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति; सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति ‘चेद्’ इति उक्तम्.

(श्रीप्रभुचरणविरचित-सि.मु.विवृत्ति.१६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) ‘‘यदि कोई लोकार्थी होकर कृष्णका भजन करता है तो वह सर्वथा क्लेश ही पाता है.’’(सि.मु.१६).

कोई आजीविका कमाने या यशआदि पानेके लिये भी भजन करता हो तो उसकी क्या गति होगी ? ऐसी जिज्ञासाके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु ‘लोकार्थी’ की चर्चा कर रहे है. ‘लोक’का मतलब है लौकिक धनादि. ऐसी लौकिक कामना रखनेवाला यदि कृष्णका भजन करता हो तब जैसे घंघा करने पर धनादि प्राप्त होता है वैसे धन तो कमाया जा सकता है. भजनद्वारा, परन्तु, उपार्जित धन तो स्वयं अनर्थरूप होता है. अतः एसे लौकार्थीके द्वारा किया गया भजन तो भक्ति ही न होनेके कारण उसके द्वारा किया गया सब कुछ (पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक) क्लेशरूप ही होता है. इसलिये वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है. ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफसाफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-सांप्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसे निषिद्धाचरणके कारण, यह स्पष्ट करनेके लिये श्रीमहाप्रभुने ‘सर्वथा’ पदका प्रयोग किया है. जिसे (शास्त्र-मार्ग-परम्परा-भगवत्स्वरूप-भक्तिभाव-नीतिका) अत्यल्पभी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है. फिर भी जो इस ज्ञान या संस्कार से सर्वथा ही रहित हो वह ऐसा कुकृत्य कदाचित् कभी कर सकता है. ऐसी संभावनाको देखते हुए श्रीमहाप्रभुने ‘चेद्’पदका प्रयोग किया है.(श्रीप्रभु.वि.सि.मु.वि.१६).

(ग)

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।

श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ।।

(शिक्षापत्रम् १८।१२-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) अपने माथे बिराजते श्रीठाकुरजीकी सेवा स्वधर्म (स्व-तन-मन-धन-गृह-परिजनके ही विनियोग) को निभाते हुए करनी चाहिये, न किसी फलके लिये, न भोगके लिये; और न किसी तरहकी प्रतिष्ठा ही प्राप्त करनेके लिये. यह सेवा भी श्रीमदाचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट मार्गके अनुसार ही करनी चाहिये (संगठन-प्रशिक्षण-जनकल्याणके लोकाभिमत तथाकथित उदात्त आशयके) कल्पित प्रकारोंसे नही. और न दुर्भाव (किसी दूसरे सार्वजनिक या व्यावसायिक देवालयोंके साथ प्रतिस्पर्धा) वश ही करनी चाहिये. (शिक्षापत्र.१८।१२-१३).

५ सेवास्थल

(क)

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः...भजेत् कृष्णम्...

(भक्तिवर्धिनी.२).

‘**तु**’ शब्देन एतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदासः उक्तः स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न संभवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेव आहुः ‘**गृहे स्थित्वा**’ इति. भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा **स्वधर्मतः कृष्णं भजेत्**.

(श्रीगोकुलनाथजीकृतविवृति.२)

अत्र गृहस्थान-विधानेन स्वगृहाधिष्ठित-स्वरूप-भजन-परित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति इति सूचितं भवति.

(श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजीकृतविवृत्ति.२)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) ‘‘पुष्टिभक्तिके बीजभावको दृढ करनेका प्रकार तो बस घरमें रहकर

स्वधर्मतः . . . कृष्णको भजना है.(भक्तिवर्धिनी.२).

यहां **'तो'** शब्दके प्रयोगसे यह ध्वनित होता है कि इस श्लोकमें अभिप्रेत भजनके प्रकारसे अतिरिक्त भजनका अन्य कोई भी प्रकार सिद्धान्ताभिमत नहीं है. स्वमार्गीय भगवद्भजन घरमें रहे बिना संभव न होनेसे सर्वप्रथम गृहस्थितिका ही निरूपण श्रीमहाप्रभु करते हैं ''**घरमें रहकर**'' विधान द्वारा. भगवद्भजनानुकूल घरमें रह कर कृष्णको भजना चाहिये (श्रीगो.वि.२).

यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें घरका विधान किया गया है अतः यदि अपने घरमें बिराजते प्रभुका भजन छोड़ कर और कहीं भजन (भेटसामग्री, मनोरथ या झांखी के रूपमें) किया जाता है तो उसे 'भक्ति' नहीं कहा जा सकता है.(श्रीवल्ल.बाल.वि.२)

(ख)

गूढलीलापरो भक्तगूढभावरसात्मकः ।
सेवनीयः सावधानैः विपरीतगतिक्रियः ।।
श्रीमदाचार्यकृपया तिष्ठति स्वगृहे हरिः ।
एवंविधः सदा हस्ते योगिनः पारदो यथा ।।

(शिक्षापत्रम्.२।१८-१९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) गूढलीलापरायण भक्तके गूढभावानुसारी विपरीत-गति-क्रिया-वाली लीला करनेवाले श्रीहरिकी सेवा सावधान हो कर करनी चाहिये. श्रीमदाचार्यचरणकी कृपासे प्रभु अपने घरमें बिराजते हैं. इस तरह कि जैसे योगीके हाथमें पाराकी गुटिका (शिक्षा.२।१८-१९).

(ग)

गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा ।
कृष्णं भजेत् यतोऽधर्मकरणात् हीनयोनिता ।।

कृष्णमूर्तौ यथालब्धैः द्रव्यैः संपूजयेद् हरिम् ।
पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च ।।

(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.४५-४६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है, क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है. यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके बिराजनेके स्थान-मंदिरादि और सिंहासनादि-का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.४५-४६).

(घ)

'आचार्यकुलाद्' इति श्रुत्युक्तरीत्या गृहएव स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यं स्वधर्मरहस्यं च गोपनीयम् इति सिद्धम्.

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-अणुभाष्यप्रकाश.३।४।५०).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

''**आचार्यकुलाद्**'' इस श्रुतिमें कही गई रीतिके अनुसार घरही में रह कर भगवद्भजन करना चाहिये और अपने धर्मके रहस्यको गुप्त रखना चाहिये (अणुभा.प्र.३।४।५०).

६ सेव्यस्वरूप

(क)

गुप्तो हि रसः रसत्वमापद्यते = अगुप्तो रसः रसाभासःस्यात्.

(सुबो.१०।१८।५ = १०।५६।४४).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) गुप्त रखनेपर ही रस रस रह पाता है = प्रकट होने पर वही रस रसाभास

बन जाता है (सुबो.१०।१८।५ = १०।५६।४४).

(ख)

सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह–

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं च तत्र च स्थितम्।।

‘**तदभाव**’ इति. ‘**क्वचिद्**’ देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते ‘हरेः मूर्तिं कृत्वा’ भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमो यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति ‘**तद्रूपम्**’ इति. वस्तु विचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् : ‘‘एनम् उद्धरिष्यामि’’ इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो भक्तिमार्गानुसारेण आह ‘**तत्र च स्थितम्**’ इति.

(त.दी.नि.प्र.२।२२८).

ननु अत्र मूलएव कुठारपात इति आकाङ्क्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः ‘**स च**’इत्यादि. ‘**तदभाव**’इत्यादि आज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे, ‘‘**यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग्**’’ इति आभासत्वाभावः सेवायाः तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावश्च सेवाकर्तुः साधितः स्वयमेव सेवाकरणेपि प्रकार–विशेष–सन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्.

(त.दी.नि.आ.भ.२।२२८).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) ऐसा गुरु तो बडी कठिनाईसे ही मिल सकता है अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है–

एसे गुरुके न मिलनेपर भगवानकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर उसकी परिचर्या भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवानके रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते है.

किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो–जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है– जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर बलवान कलियुगके कारण उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये, इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयं ही में प्रस्थापित करते हुवे कहते है कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलने पर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है जिसे शिरोधार्य करना ही चाहिये ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ‘‘**यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथक्**’’ इस वचनमें निन्दित धर्माभासता–पाषण्डका आरोप नहीं लगता, और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके जिज्ञास्य होनेपर किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर पुछ–जान लेने में कोई आपत्ति नहीं है यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.भं.२२८).

(ग)

गुरुदत्तां स्वयंलब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम्।
व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते।।

(साधनदीपिका.९०).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ग) भगवत्स्वरूप चाहे गुरुके द्वारा अपने मांथे पधराया गया हो, या हमें स्वयं

कहींसे प्राप्त हो गया हो, या अन्य किसी भक्तके द्वारा सुपूजित हो; अथवा खंडित भी चाहे क्यों न हो, परन्तु है तो ‘‘अपने मांथे बिराजता सेव्यस्वरूप’’ ऐसा भाव उस स्वरूपके प्रति अखंडित रहता हो (‘वोल्टेज’ कम न लगते हों) तो ऐसे स्वरूपकी ही सेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये (साधनदीपिका.९०).

(घ)

सेवाविधिः समग्रोपि क्रमेणैव विलिख्यते।
प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तौ सेवा विधीयते।।
मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम्।
भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता।।
पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्यसेवनम्।
विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः।।
मणिस्पर्शेन ताम्रादि सौवर्णमिव तत्त्वतः।
अतस्तत्र कृतं सर्वं साक्षात्कृष्णे कृतं भवेत्।।

(श्रीहरिरायजीकृत-स्व.श.स.से.निरूपणम्.३९-४१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) अब समग्र सेवाविधि क्रमशः लिखी जाती है. उत्तम प्रकार होनेके कारण प्रथम मूर्तिकी सेवा कही जाती है. भक्तिमार्गके प्रकारके अनुसार मूर्तिमें प्रभुका ज्ञान प्रभुके साकार होनेके कारण एवं मूर्तिमें आविष्ट होनेके कारण मान्य किया गया है. ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाये तो सब कुछ भगवदात्मक होनेसे मूर्ति भी साक्षात् भगवद्रूप ही है. पूजामार्गके अनुसार प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रादि-विधिके कारण पूजनीय प्रभुकी सेवा प्राप्त होती है. भक्तिमार्गमें, किन्तु, अन्य दोनों मार्गोंकी अपेक्षा विशेषता यह है कि मूर्ति स्वयं पुरुषोत्तमरूप है (विभूति, प्रतिनिधि या केवल अक्षरात्मक नहीं). जैसे पारसमणिके स्पर्शसे तांबा आदि धातु तत्त्वतः सुवर्ण बन जाती है वैसे ही मूर्तिके साथ किया गया भक्त्युपचार तत्त्वतः साक्षात् श्रीकृष्णके प्रति किया गया भक्त्युपचार हो जाता है (श्रीह.कृत.स्व.श.स.से.नि.३९-४१).

(ङ)

स्वमार्गसेव्यरूपस्य चिन्तने रीतिरुच्यते।
...तदेकहृदयस्थायी तद्भावः कृष्णएव हि।
लीलासहस्रवलितः सामग्रीसहितस्तथा।
भावनीयः सदानन्दः सदा नन्दादिलालितः।।
इदमेवोक्तम् आचार्यैः सिद्धान्तस्य निरूपणे।
‘‘आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवे’’ति यद्वचः।।
तदाशयस्तु विवृतः कृपयैव प्रभोर्मया।
अवगत्य जनाः सर्वे चिन्तयन्तु हरिं सदा।।

(श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः.१-१३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ङ) स्वमार्गीय सेव्यस्वरूप चिन्तनका प्रकार अब कहा जाता है... पुष्टिभक्तके हृदयमें स्थित जो भक्तिभाव है वह निश्चित श्रीकृष्ण ही हैं जो कि अनेक लीलायुक्त हैं और उन लीलाओंकी सामग्री सहित बिराजमान हैं. वैसे सदानन्द और सदा श्रीनन्दादि व्रजभक्तों द्वारा सेव्यमान श्रीकृष्णका ही भावन करना चाहिये. सिद्धान्तमुक्तावलीमें **‘‘आत्मानन्दसमुद्रमें स्थित श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये’’** इस वचनद्वारा श्रीमहाप्रभुने यह ही बताया है. प्रभुकी कृपासे ही उसके आशयका मेंनें विवरण किया है. उनकी कृपासे स्वमार्गीय चिन्तनका स्वरूप जानके सर्व पुष्टिमार्गीयजन सदा हरिका चिन्तन करें ऐसी मेरी शुभकामना है (श्रीहरि.श्री.प्रभो.चिन्त.प्र.१-१३).

(च)

भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः।
सेव्यमानं सदा भावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम्।।

(स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः१८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(च) श्रीमदाचार्यचरणोंके आश्रय पानेके सौभाग्यशाली ऐसे भक्तिमार्गीयोंद्वारा

पुष्टिभावोंसे (प्रवाही भावोंसे नहीं) सदा सेव्यमान प्रभु निश्चित ही निरोध (प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति) को सिद्ध करेंगे ही (श्रीहरि.स्व.स्व.स्था.प्र.१८).

७ सेवार्थ–आजिविका

(क)

याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्. ''**अचौराणाम् अपापानाम्...**'' इति वचनात्. जीविकायां चित्तं व्यापृतं पुनः भगवति योजनार्थम् उपायम् आह ''**पठेच्च नियमं कृत्वा**'' इति. अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि श्रीभागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायः कथितः.

(त.दी.नि.प्र.२।२३२).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) दिनमें कमसे कम तीन घन्टा भगवत्सेवा कर लेनेके बाद अनिषिद्ध उपायोंसे आजीविकाके उपार्जनार्थ प्रवृत्त होना चाहिये. कुलपरम्परासे चली आ रही वृत्ति भी यहि निषिद्ध (देवलकादिवृत्ति–सदृश) हो तो छोड देनी चाहिये. क्योंकि ''**अचौराणाम् अपापानाम्...**''वचनसे यही सिद्ध होता है. जीविकामें उलझे हुए चित्तको भगवानमें लगानेका उपाय कहते है ''**भागवतका नियमपूर्वक पाठ करना चाहिये**''. थोड़ीसि भी बहिर्मुखताकी सम्भावना रहनेपर भागवतका अनुसन्धान करते रहना उपाय कहा गया है. (त.दी.नि.प्र.२।२३२)

(ख) श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनं ग्रामयाजकं सोमविक्रयिणं चितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थिं शवस्पृशं महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलम् अम्भोऽवगाह्य उत्तीर्य अग्निम् उपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत्. धृतं प्राश्य स्नात्वा त्रिराचमेद् इति च्यवनवचनात्.

चितिञ्च चितिकाष्ठञ्च पूयं चंडालमेव च।
स्पृष्ट्वा देवलकञ्चैव सवासा जलमाविशेत्॥

देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्।
स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः॥

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत–द्रव्यशुद्धि).

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(ख) कुत्तेका चाण्डालका प्रेतधूमका देवद्रव्योपजीवीका ग्रामयाजकका सोमविक्रेताका चिताका चिताकाष्ठका चरबीयुक्तमानुषास्थिका शवस्पर्श करनेवालेका महापातकीका तथा शवका र्स्पश करने पर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानेके बाद बाहर आने पर अग्निका उपस्पर्श करके एकसो आठ गायत्रीका जप करना चाहिये ओर धृतप्राशन कर त्रिराचमन करना चाहिये ऐसा च्यवन वचन हे. चिता चिताकी लकडी पूय चण्डाल तथा देवलक का स्पर्श होनेपर सवस्त्र जलमें डुबकी लगानी चाहिये. तीन वर्ष पर्यन्त जो वित्तार्थी होकर देवार्चन करता है उसे हव्य–कव्यमें गर्हित समजना चाहिये (श्रीपुरुषोत्तजीकृत द्रव्यशुद्धि)

८ सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक

(क)

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्येजत्॥

एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह ''**भार्यादिरनुकूलश्चेद्**''इति.

भार्यादिकं गृहं, विष्णुपराङ्मुखाः भार्यादयो अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन्मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति

(त.दी.नि..प्र.२।२३१)

(हिन्दी–भाषा–भावानुवादौ)

(क) भार्यादिसे, उनके भगवत्सेवार्थ अनुकूल होनेपर, भगवत्सम्बन्धि क्रिया = परिचर्या करवा लेनी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करनी चाहिये और प्रतिकूल होने पर गृहादिका त्याग करना चाहिये. इस तरह भजनमें प्रवृत्त अधिकारीके भार्यादिका भगवत्सेवामें विनियोग कहा जा रहा है ''**भार्यादिके**

अनुकूल होने पर''. **'गृह'** यानि भार्यादि. इनका परित्याग विष्णुपराङ्मुख होनेपर ही विहित है अन्यथा नहीं दोषरूप होनेसे. इससे यह कहना अभिप्रेत है कि इस मार्गमें अवैष्णवोंके साथ नहीं रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२३१).

(ख)

तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते।
श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्।
....
एवमाश्रित्य धर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः।
...अतः परं क्रमेणैव जीवः कृतसमर्पणः।।९-१०।।
....
सेवासंस्काररूपत्वाद् विदध्यात्सेवनां सदा।
...सर्वथा सर्वदैवापि नचाद्यादसमर्पितम्।।२५-२६।।
तद्भक्षणे भवेदेवाब्रह्मसम्बन्धि वस्तुतः।
सर्वत्र ब्रह्मसम्बन्ध-भावना-नाशएव हि।।२७।।
यथा समर्पणे योग्यं यत् तथा तत् समर्पयेत्।
....
गृहे स्थित्वा सेवनार्थं स्वधर्मेणैव सर्वथा।
कृष्णं भजेत् यतो अधर्मकरणात् हीनयोनिता।।४५।।
कृष्णमूर्तौ यथालब्धैर्द्रव्यैः सम्पूजयेद् हरिम्।
पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च।।४६।।
....
भार्यादीनामानुकूल्ये तैः सेवामेव कारयेत्।।५६।।
स्वयं कुर्याद् उदासीनतया तेषां पुनः स्थितौ।
अपकीर्तिभयात् कृष्णसेवा-वैयग्र्य-संभवात्।।५७।।
स्वकृत-ब्रह्मसंबन्धं विभाव्य हृदि सर्वथा।
तत्पोषणं प्रकुर्वीत रुग्णदेहवदातुरः।।५८।।

(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.नि.९-५८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) प्रारम्भमें शरणागत अधिकारीको क्या करना चाहिये यह कहा जाता है: श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित मार्गके गुरुद्वारा जिसने शरणागतिकी दीक्षा ली हो उसके लिये यह आवश्यक है कि हरिको स्वामी मानकर स्वयंको सेवक मानना चाहिये ... इस तरह सङ्क्षेपसे शरणागत अधिकारीके धर्मका निरूपण किया ...

इसके बाद क्रमानुसार ही जिस जीवने समर्पण किया है उसका धर्म बताया जाता है. समर्पणकी दीक्षा सेवार्थ अपेक्षित संस्काररूप ही होनेसे वह दीक्षित व्यक्तिको तो सदा सेवा ही करनी चाहिये... सर्वथा सर्वदा ही असमर्पितका भक्षण नही करना चाहिये क्योंकि असमर्पितका भक्षण करनेपर वस्तुतः अब्रह्मसम्बन्धी बन जाता है और ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका भी सर्वत्र नाश ही हो जाता है. जो वस्तु जिस प्रकारसे प्रभुको समर्पित हो सकती हो उस प्रकारसे उस वस्तुको समर्पित करनी चाहिये. घरमें रह कर सेवा जो करनी है वह सर्वथा स्वधर्मानुसार ही कृष्णभजनके रूपमें करनी है. क्योंकि अधर्म करनेपर हीनयोनिमें जन्म मिल सकता है. यथालब्ध द्रव्योंसे हरिका पूजन उनकी मूर्तिके रूपमें करना चाहिये. हरिपूजनसे भी पहले श्रीहरिके बिराजनेके स्थान मंदिरादि और सिंहासनादि का भी अलंकरणात्मक पूजन करना चाहिये. भार्यादिके अनुकूल होनेपर उनसे भगवत्सेवा ही करानी चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं ही करनी चाहिये. अपयश, कृष्णसेवामें संभावित निरर्थक व्यग्रता; एवं स्वयं अपनेद्वारा ग्रहीत ब्रह्मसम्बन्धकी भावनाका विचार करके, जैसे अपना ही देह कभी रुग्ण-भगवत्सेवामें भी असमर्थ-हो जाये तो भी उसका पालन तो करना ही पडता है वैसे ही ऐसे भगवत्सेवामें उदासीन परिवारजनोंके पालनमें भी रुग्णपरिवारकी भावना करनी चाहिये (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.९-५८)

९ सेवोपदेष्टा

(क)

परमत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह -

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात् ।।

(त.दी.नि.२।२२७)

‘**कृष्णसेवापरम्**’ इति. यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्याद् इति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति ‘**दम्भादिरहितम्**’ इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद्विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह ‘**श्रीभागवततत्त्वज्ञम्**’ इति. ‘**जिज्ञासु**’ न तु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं – सर्वभावेन, तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या.

(त.दी.नि.प्र.२।२२७).

‘**वीक्ष्य**’ इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. ‘ईक्ष’ दर्शनाङ्कनयोः, ‘वि’ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे – ‘‘**गुरुः परीक्षयेत् शिष्यम्**’’ इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरुः. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्…तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.

(त.दी.नि.प्र.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हीके लिए फलदायक बन पाता है किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको भगवत्कृपयैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं इस कसोटीपर जांचनेपर निश्चित हो पाता है.

जिनपर भगवत्कृपा है उनके प्रारम्भतः साधनोंका निरूपण करते हैं –

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा ? अतः गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त (दम्भ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा) के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अतः गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवा भी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदयमें कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवामें प्रवृत्त होता है तो वह सफल नहीं हो पाती है. अतः गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्व सेवामें प्रवृत्त हो जाना भजनका सच्चा प्रकार है (त.दी.नि.प्र.२।२२७).

मूलकारिकामें ‘**वीक्ष्य**’ पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्य मार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. ‘ईक्ष’का अर्थ होता है: ‘देखना-अंकित करना’. उसके साथ ‘वि’उपसर्ग जोडनेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभांति परीक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहां गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा, जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों, उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसेका अनुसरण करनेपर एक अन्धा दूसरे अन्धेका अनुसरण करता हो जायेगा. और दोनों ही, एकदूसरेके कारण, एकसाथ ही गिरेंगे, जब भी गिरेंगे ! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही ‘जलभेद’ग्रन्थ प्रकट कीया है…इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कोन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये (त.दी.नि.आवरणभङ्ग.२।२२७).

(ख)

महात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकाङ्क्षा गुरोर्भवेत् ।।
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादराद् ।।
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः ।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः ।।

(साधनदीपिका.९-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) भगवन्महात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहीं है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है. अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभांति पहचान कर ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा उन्हें पार लगाना चाहिये (सा.दी.९-११).

(ग)

गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः ।।
तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः ।
अथाधुनिकतीर्थानाम् अतथाभूततोऽपि हि ।।
उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति ।
यदि दुःसङ्गदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः ।।

(श्रीहरिरायजीकृत.स्व.श.स.से.निरू.४९-५१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) गुरु भी भक्तिमार्गानुसारी, कृष्णसेवापरायण, भागवतके तत्त्वको जानने वाला तथा दम्भादिसे रहित पुरुष होना चाहिये. ऐसे लक्षणोंवाले गुरुके न मिलनेपर आचार्यवाणीरूप गुरुसे भी स्वकर्तव्यनियामक उपदेशग्रहण किया जा सकता है. आचार्यकुलोद्भूत गुरुस्थानापन्न आधुनिक गोस्वामिमहानुभाव यदि उक्त लक्षणोंवाले न भी हों फिरभी उनसे भी सर्वलक्षणसम्पन्न-श्रीकृष्णज्ञानप्रद-गुरु-श्रीमदाचार्यचरण-वचनानुसारी उपदेश मिलता हो तो सद्गुरुके समान ही फल देनेवाला हो सकता है. यदि उनकी बुद्धि दुःसंगादि (अर्थलोलुप-वणिक-ट्रस्टी-संगादि) दोषोंसे अन्यथा (मार्गविपरीत) न हो गई हो (श्रीहरि.स्व.श.स.से.नि.४९-५०).

(घ)

अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः ।
विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः ।।
स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने ।
प्रयच्छेत् तत् स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः ।।

(श्रीहरि.कृत.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्र.१६-१७).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(घ) श्रीमदाचार्यचरणोंका भलीभांति आश्रय ग्रहण कर, किसी भी प्रकारके दम्भकी या शिष्यसे कुछ अपेक्षा रखनेकी मनोवृत्तिसे रहित हो कर, उपस्थित जीवात्माका परमात्माके द्वारा पुष्टिमार्गमें वरण किया गया है, अतः ऐसा जीव पुष्टिलाभसे कहीं वंचित न रह जाय बस इसी करुणाभावको रखते हुवे, पुष्टिमार्गपर अग्रसर होनेका सतत प्रयास करनेवाले अपने शुद्ध सेवकके माथे पुष्ट किया हुवा स्वरूप फलरूपतया (न कि गुरुभावतया या स्वसेव्यसे न्यून पुरुषोत्तमभावतया) पधरा देने चाहिये.

(श्रीहरि.स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्रका.१६-१७).

(ङ)

वञ्चकस्तु ततोऽप्येष दुष्ट इत्येव बुद्ध्यताम् ।। १६ ।।
यतः तदाकृतिश्चेष्टा तथाचारश्च भाषणम् ।

विनयः शान्तता वेशः शंखचक्रादिचिह्नतः ।। १७ ।।
एवमाद्यखिलं तुल्यं भगवद्धर्मवर्तिभिः ।
ततो ज्ञानाभावऽतोपि सर्वथा नाशनं मतम् ।। १८ ।।
दुर्घटं तस्य विज्ञानं सर्वथा भक्तसाम्यतः ।
अतएव न कर्तव्यो विश्वासो ह्यविचारितः ।। १९ ।।
तदीयत्वभ्रमात्तस्मिन् विश्वासो संगदोषतः ।
असत्यपि च सद्भावात्पतनं भक्तिमार्गतः ।। २० ।।
अतएवोक्तमाचार्यैः गुरोरपि च वीक्षणम् ।
‘कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये’त्यादिपद्ये निबन्धगे ।। २१ ।।

....

सतोऽपि किञ्चिदाधिक्यं वञ्चके तु प्रतीयते ।
प्रदर्शनार्थत्वतस्तु वेषादेरिह सर्वथा ।। २५ ।।

....

भगवद्भक्तसाम्येपि तदसाधारणो गुणः ।
निरपेक्षत्वमेतस्मिंस्तदभावाद्धि वंचकः ।। ३२ ।।
अनाकारितएवासौ सङ्गे लगति सर्वथा ।
प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन ।। ३३ ।।
स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः ।
दीनेषु भगवद्भक्तास्तदर्थैकप्रसादकाः ।। ३४ ।।
चालयत्ययमुन्मार्गे मायाचाटुकसूक्तिभिः ।
ते तु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः ।। ३५ ।।
(श्रीहरिरायजीकृत दुःसंगविज्ञान निरू.१६-३५).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ङ) वञ्चकको तो अन्दर तथा बाहर-दोनों तरहके चोरोंसे भी कुछ अधिक ही दुष्ट समझना चाहिये. क्योंकि उसकी आकृति, चेष्टा, आचार, भाषा, विनीतता, शान्तता, वेश, तथा शङ्खचक्रादि चिह्न सभी भगवद्धर्मानुसार चलनेवालोंके समान ही होते हैं. अतः जिसे ऐसे वञ्चकोंकी यथार्थताका ज्ञान नहीं होता है, उसका सब तरहसे नाश होता है. भक्तोंके समान दीखनेवाले इन वञ्चकोंका ज्ञान सर्वथा अशक्य सा होता है. इसी कारणसे विचार किये बिना किसीपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये. भ्रमवश भगवदीय मान कर यदि ऐसे लोगोंका विश्वास कर लिया जाय तब तो सङ्गदोषवशात् तथा असत्पुरुषमें सद्भाव रखनेके दोषवशात् निश्चित ही भक्तिमार्गसे अधःपतन हो जाता है. इसी कारणसे श्रीमहाप्रभुने निबन्धमें “कृष्णसेवापरं वीक्ष्य” द्वारा गुरुके जो लक्षण बतलाये हैं, उसी प्रकारसे गुरुकी भी परीक्षा करनी चाहिये...सच्चे भक्त और वंचक के बीच एक उल्लेखनीय अन्तर यही होता है कि वंचक अपनी वेषभूषा (तिलक-छापा, आचार-अपरस, नित्यसेवा, छप्पनभोगादिमनोरथ, “मेरा बालूडा” जेसी मिथ्या भावुकवाणी) आदि केवल प्रदर्शनार्थ ही अपनाता है. अतः एक सच्चा भक्त अपनी वास्तविक भावसामर्थ्य के अनुरूप जितनी मात्रामें इन बाह्यलक्षणोंको निभा पाता है, उससे कुछ अधिक ही इन बाह्यलक्षणोंका प्रदर्शन वंचक करता होता है. इस तरह अन्य सभी बातोंमें वंचक सच्चे भक्तोंकी बराबरी कर लेता है. अपने भक्तिभावको जनता (‘क्यू’लगा कर) देखने आये ऐसी अपेक्षा एक सच्चा भक्त (जैसे कि वंचक अखबारोंमें विज्ञापन दे कर तथा घरके द्वारपर सूचनापट्ट लगा कर आम जनता उसके सेव्यस्वरूपकी सेवा-मनोरथको देखने आये ऐसी अपेक्षा रखता है!) कभी नहीं रखता. अपने सेव्य प्रभुको रिझानेमें रूपिया-पैसा-फेंकनेवाले दर्शनार्थिओंकी अपेक्षा न रख पाना वंचकसे निभ नहीं पाता! बस, इस एक असाधारण लक्षणके आधारपर वंचकको शीघ्र पहचाना जा सकता है. अतएव कोई न भी बुलाये पर वंचक हरेक धनदाताके पीछे लग ही जाता है (बहुधा स्वयं नहीं तो अपने एजेंट या समाधानी को ही लगा कर!:अनुवादक). सच्चे भगवद्भक्त तो अनेक बार प्रार्थना करनेपर भी बडी मुश्किलसे कभी कुछ कृपा कर देते हैं, जबकि वञ्चक तो स्वार्थसे मोहित होनेके कारण कोई द्रव्यसम्पन्न है इतना पता चलते ही (लप्पुपंडा बन कर) पीछे पड जाता है. सच्चा भगवद्भक्त तो दीन-दरिद्रोंके साथ भी भेद बरते बिना उनके भक्तिभावोंका पोषण करता है. वञ्चक लोग कपटपूर्ण तथा चाटुकारितापूर्ण वचनोंसे लोगोंको सच्चे मार्गसे विपरीत दिशामें ले जाते हैं. जबकि सच्चा भगवद्भक्त तो औषधिके समान कडवे सिद्धान्तवचनोंके द्वारा सन्मार्गकी ओर ही ले जाता है (श्रीहरि.दु.वि.प्र.१६-३५)

(च)

यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनात् जनः।
संसृतिप्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्।
निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः।।

(शिक्षापत्र.३।८-९)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(च) आचार्य वचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्त्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. (शिक्षापत्र.३।८-९).

(छ) तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति, युक्तं च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(छ) इससे यह फलित होता है कि गुरुत्व ही अपनी आजीविका या वृत्ति है. यही उचित भी है क्योंकि किसीका कुछभी कार्य किये बिना मुफ्तमें ही दुसरेका धन ले लेनेपर लेनेवाला ऋणी हो जाता है, जो बन्धनकारी बात है. इसके अलावा ऋत-वृत्तिके बाद 'अमृत' नामकी जो अयाचित वृत्ति कही गई है उसे अपनानेपर भी यदि शिष्यसे ही अयाचित ग्रहण करनेका आग्रह रखा जाय, अन्य किसीसे नहीं, तो ऐसा सङ्कोच और भी प्रशंसनीय है (श्रीपुरुषोत्तजीकृत-स्ववृत्तिवाद).

(ज)

गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नानन्तरं सेवादिकम् उपदेष्टव्यम् इति.

(त.दी.नि.प्र.आ.भङ्ग.२।२५५-२५६).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ज) गुरुको सेवोपदेश-श्रवणकी इच्छा रखनेवालेके वेशादि (भाषा, भाव, रुचि, आचार-विचार) के द्वारा मार्गरुचिकी परीक्षा करके और जिज्ञासा जानकर तदनुकूल प्रश्न करनेपर ही सेवादिका उपदेश करना चाहिये (त.दी.नि.आ.भं.२५५-२५६).

१० भागवतकथा

(क)

.........ततो भागवतं कृतम्।
एतदभ्यसनात् लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।५७।।
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम् अदम्भतः।।२४३।।
पठनीयं प्रयन्तेन सर्वहेतुविवर्जितम्।।
वृत्त्यर्थं नैव युज्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्।।।२५३-४।।

(त.दी.नि.-२।६७,२४३,२५४).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) ...तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण-स्मरण-कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय, यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण

चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके और जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये (त.दी.नि.६७, २४३, २५४).

(ख)

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।।

(जलभेद.५).

पञ्चमं भावम् आहुः ‘**जलार्थमेव**’ इति. प्रक्षालनोच्छिष्ट-जलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्ताः तत्तुल्याः **नीचाः गानोपजीविनः** इति अर्थः ... तेन उच्छिष्ट - गर्त - जलवत् तेषां भावो न सद्भिः ग्राह्यः इति अर्थः ... पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनः यद् गायकनिरूपणं तद् एतादृशानां पौराणिकानाम् एतद्गायक-तुल्यत्व-ज्ञापनार्थम्.

(श्रीकल्याणरायविरचित-जलभेद-विवृति.५).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बताते हैं ऐसे गुणगानकर्ता अपवित्र-मलिन-जल-को एकत्रित करनेके लिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं.(जलभेद.५)

श्रीमहाप्रभु पांचवें भावका वर्णन करनेको ‘‘**जलको एकत्रित करनेके लिये**’’ शब्दप्रयोग करते हैं. मुखादिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेके लिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं... इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहिं होता... पौराणिकोंके भावके निरूपणके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह ऐसे (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक ऐसे गायकोंके तुल्य हैं यह दिखलानेके लिये किया गया है (श्रीकल्याण.वि.ज.भे.वि.५).

११ स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसाद-ग्रहण

(क) अपरञ्च दाने हि न स्वविनियोगः नतु निवेदने अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्याद् अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्. निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा दासधर्मत्वात्.

(नवरत्नविवृति.१).

‘**अपरञ्च**’ इत्यादि दानं नाम स्वत्व-परित्याग-पूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः ‘‘**तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम**’’ इत्यादि शब्दाभिव्यंग्यो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते सति ‘**हि**’ निश्चयेन ‘**न स्वविनियोगः**’ दत्तापहार-दोषोत्पादकत्वात्. निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः ‘‘तुभ्यं समर्पयामि-निवेदयामि’’ इत्यादिशब्दाभिव्यंग्यः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः तस्मिन् कृते तु नः स्वविनियोगो दोषाय दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात्.

(श्रीपुरुषोत्तमजीकृत.न.वि.प्र.१).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) अपरञ्च भगवत्स्वरूपके लिये दान (भेट) रूपसे कुछ भी देने पर अपने किसी भी कार्यमें उस प्रदत्त वस्तुका विनियोग किया नहीं जा सकता, परन्तु भगवत्स्वरूपको किसी वस्तुके निवेदन करनेपर यह बात लागू नहीं होती. अन्यथा प्रभुको निवेदित अन्नादिका ग्रहण भी हो नहीं पायेगा. अनिवेदित वस्तुका उपभोग तो निषिद्ध ही है. अतः निवेदित वस्तुके भगवद्भोगार्थ विनियोग हो जाने पर भगवत्प्रदत्त प्रसादके रूपमें भक्तके द्वारा उपभोग भी उचिततर ही है, दासधर्म होनेके कारण (नवरत्नविवृति.१).

अपरञ्च अपने स्वत्वका परित्याग कर परस्वत्वको पैदा करनेवाले - ‘‘तुम्हें में यह देता हूँ, अब यह वस्तु मेरी नहीं है’’ जैसे शब्दोंद्वारा अभिव्यक्त होते संकल्पात्मक मनोव्यापारसे ‘दान’ किया जाता है. दान करनेपर निश्चयेन स्वार्थविनियोग अनुमत नहीं है, ‘दत्तापहार’ दोषजनक होनेसे. निवेदन तो, जबकी, स्वयंके तदीय होनेके अनुसन्धानके साथ स्वत्वाभिमान (नहीं कि स्वत्व) के त्याग करनेपर होता है. ‘‘यह वस्तु तुम्हें समर्पित करता हूँ-निवेदित करता हूँ’’ जैसे शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला, दानसे विलक्षण, सङ्कल्पात्मक मनोव्यापार

यहाँ होता है. इस निवेदनके करनेपर निवेदित वस्तुका अपने उपभोगमें विनियोग दोषरूप नहीं होता. क्योंकि न तो किसी दूसरेको कुछ दिया जा रहा है और न दी हुई किसी वस्तुका अपहरण ही किया जा रहा है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत न.वि.प्र.१).

१२ तीर्थपर्यटन

वर्णाश्रम-युक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानि विकल्पन्ते इति आह-

यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दीनान्नाधिकस्य हि ।।
हतत्रपः पठन्नित्यं नामानि च कृतानि च।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः ।।

...तत्र अटनप्रकारकम् आह 'अतस्तेष्वप्रतिग्राही' इति. तीर्थप्रवेशदिवसे तु उपवासः अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं न तु ततो अधिकम्...उच्चैः नामसङ्कीर्तनं तत्र अङ्गम् अन्तर्भगवत्स्मरणञ्च. एकाकी पर्यटेत्. न अत्र ''नैक प्रपद्येताध्वानम्'' इति स्मृतिदोषः पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या शान्तश्च चित्ते भवेत्...

(त.दी.नि.प्र:२।२४८-९).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

वर्णाश्रमवान अधिकारियोंके लिये भी वर्णाश्रम धर्म ओर तीर्थयात्रा के बीच विकल्प स्वीकारा गया है ऐसा निरूपण करते हैं- यज्ञों और तीर्थोंको भगवान हरिने समान बनाया है. अतः एक दिनसे अधिक चलने वाली सामग्रीका प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये. भगवानके नाम और लीला का निःसंङ्कोच पाठ करते रहना चाहिये. बिना किसी स्पृहाके शान्त एकाकी और कृष्णतत्पर होकर तीर्थ पर्यटन करना चाहिये.

...तीर्थाटनका प्रकार निरूपित करते हैं ''अतः..'' तीर्थक्षेत्रमें प्रवेशके दिन तो उपवास ही रखना चाहिये. अगले दिन यदि खाने जितना अन्न न हो तो उतना लिया जा सकता है उससे अधिक नहीं...वाणीसे उच्चस्वरमें नामसङ्कीर्तन और हृदयमें भीतर भगवत्स्मरण ये तीर्थयात्राके अंग हैं. पर्यटन एकाकीतया करना चाहिये. यहाँ ''अकेले यात्रा नहीं करनी चाहिय'' इस स्मृतिमें निरूपित दोषका कोई प्रसङ्ग नहीं है. मार्गमें भोगादिककी स्पृहा नहीं करनी चाहीये. शान्त रहना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२४८-९).

१३ आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार

(क)

तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा रूपयन्ति।
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः ।।

(श्रीप्रभुचरण-कृत-वल्लभाष्टक ३).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(क) हे श्रीवल्लभ ! आपके कहे हुए वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहजआसुरीजीव हैं.

(श्रीप्रभु.कृत.वल्ल.३)

(ख)

तदाश्रयो न वचनैः किन्तु तन्मार्गनिष्ठया।
मार्गनिष्ठा न स्वबोधैः किन्तु तादृग्गुरूदितैः ।।
गुरूदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः।
अनुवादो न स्वबुद्ध्या किन्तु मूलक्रमागतः ।।
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः।

(शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ख) श्रीमहाप्रभुका आश्रय केवल वाणीसे नहीं किन्तु महाप्रभुके मार्गमें निष्ठा रखकर करना चाहिये. मार्गमें निष्ठा अपनी थोथी समजसे नहीं किन्तु मार्गके गुरुके द्वारा कहे गये वचनोंके अनुसार रखनी चाहिये. गुरुके कहे हुए वचनोंका अर्थ स्वतः ही नहीं किन्तु अनुवादतः समजना चाहिये. अनुवाद भी केवल अपनी

बुद्धिसे नहीं किन्तु मूलक्रम-परम्पराके अनुसार करना चाहिये. इस सारे प्रकारमें पुनः श्रीमहाप्रभुका दृढ आश्रय तो अपेक्षित है ही (शिक्षापत्र ८।२६-२८).

(ग)

यो वद्वत्यन्यथा वाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः ।
संसृति प्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः ।।
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम् ।
निरपेक्षः सात्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः ।।
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुनः ।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सङ्गनिर्णयः ।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः ।
ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा ।।
(शिक्षापत्र.३।८-११)

(हिन्दी-भाषा-भावानुवादौ)

(ग) आचार्यवचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें जो करता हो उसका सङ्ग दुष्टसङ्ग है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष और सात्त्विक हो उसका सङ्ग साधुसङ्ग है. यह निकष सभी - स्वमार्गीय, अस्वमार्गीय; अथवा वल्लभकुलमें प्रसूत - के साथ किये जाने वाले सत्संगको परखनेके लिये है. अपनी मति स्वतः ही श्रीमदाचार्यचरणमें सदा स्थापित करनी चाहिये. पुष्टिमार्गीयोंके सभी कार्य इसीसे सिद्ध होंगे (शि.प.३।८-११).

।।सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु ।।

परिशिष्टम् – १

शरणागतिसम्बन्धिवचनावली

(१)

(आश्रयस्वरूपलक्षणम्)

............आश्रयोऽतो निरूप्यते ।।
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।।

(सर्वास्वप्यवस्थासु भगवदाश्रयस्य अनुष्ठेयत्वम्)

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ।
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ।।
अहङ्कार-कृते चैव पोष्य-पोषण-रक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ।।
अलौकिक-मनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।।

(भगवदाश्रयसिद्धयै क्रमिकोपाय[१-४]-चतुष्टयम्)

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्[१] ।।
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च ।
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथाऽन्यत्र विवर्जयेत्[२] ।।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ[३] प्राप्तं सेवेत निर्ममः ।।
यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्[४] हरिम् ।।

(भगवदाश्रयावश्यकतोपपत्त्यन्तरेणोपसंहारः)

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गाहि दुःसाध्या इति मे मतिः।।

(विवेकधैर्याश्रय.९-१७)

(२)

(प्रपत्तिमार्गे उत्तमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमा श्रवणादिषु।
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-प्रकारतः।।

(पञ्चपद्यानि.५)

(३)

(पुष्टिप्रपत्तिमार्गे त्याज्यग्राह्यविवेकविषयिण्याः षड्विधायाः इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

अनुकूलस्य सङ्कल्पः[१] प्रतिकूलविसर्जनम्[२]।
करिष्यतीति विश्वासो[३] भर्तृत्वे वरणं तथा[४]।
आत्मनैवेद्य-कार्पण्ये[५-६] षड्विधा शरणागतिः।।

(पञ्चश्लोकी.४-५)

(४)

प्रपत्तिमार्गमाह :

जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा।
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः।

(त.दी.नि.२५५).

प्रपत्तिमार्गम् इति. भगवानैव मम ऐहिके परलोके च गतिरहं भगवद्दास इति निश्चयेन भगवत्परतया भगवन्महास्थाने स्थितिः प्रपत्तिमार्ग इत्यर्थः. तत्र तिष्ठेत इति मूले. त्वद्दासोऽहं सर्वार्थे त्वामेव आश्रित इत्यादि अभिप्रायं प्रकटयन् तिष्ठेत इत्यर्थः.

(त.दी.नि.प्र.कल्या.टि.२।२२५).

प्रपत्ति इत्यादि. अत्रापि अनधिकारे उपायान्तरं तदनुकल्पभूतम् आह इत्यर्थः. ‘‘**सर्वधर्मान्...**’’ इत्यत्र ‘**एक**’ पदाद् अन्याश्रयः सर्वथा बाधक इति बोधयितुं तत्परपदस्य तात्पर्यम् आहुः **प्रपत्तौ** इत्यादि. तत्परः तिष्ठेद् इत्यर्थः. स्थानान्तरस्यापि संग्रहार्थम् आहुः **पूजा** इत्यादि. एतस्यैव शेषौ विवेकधैर्याश्रयौ ज्ञेयौ. प्रपत्तिश्च शरणागतिः, आश्रयः इति यावत्. तत् प्रथमतो मानसं, पश्चात् कायिकं वाचनिकम् इति अक्रूरस्तुतौ उक्तं सुबोधिन्यां तद् उपपादितं शरणागतिप्रकरणे इति च. तदेव विवेकधैर्याश्रये विवेकधैर्ययोः निरूपणेन कायिकम्, आश्रयनिरूपणेन मानसं, वाचनिकं च उक्तम्. अत्रापि कारणं भगवदनुग्रहएव इति ‘‘**सोऽहं त्वाङ्घ्री**’’ त्यत्र अक्रूरस्तुतौ प्रतिपादितम्.

(त.दी.नि.प्र.आव.भङ्ग.२।२५५).

(५)

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्।
‘‘मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते’’।।
एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वम् आह हि।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।
विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः।।
न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम्।
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवन्।।
आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मयोदितम्।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्।।
यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि।।
तस्मात् त्वम् उद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।
मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्।।
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयम् उक्तवान्।

आत्मानं हि स्वयं वेद तस्माद् अन्यवचो मृषा।।
(त.दी.नि.२।३०४-३११)

(६)

(प्रपत्तौ दीक्षितानां वैष्णवाचारपरिपालनपराणां कृते सप्तविधभक्तेः उपदेशः)

लब्ध्वानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जनः।
धारयेत् तिलकं मालां वैष्णवाचारतत्परः।।
सर्वस्वं हरिसात्कार्यं त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवम्।
हिंस्र-काम्या-ऽन्यदेवार्चां यदि नित्यं च लौकिकम्।।
पूर्वभाण्डादिकं सर्वं परित्यज्य विशुद्धितः।
श्रवणादि[१-७]परो नित्यं हरेः प्रेमास्पदो भवेत्।।
हरेर्गुणानां श्रवणं ज्ययोभ्यः शृणुयात् सदा[१]।
जातशिक्षः यवीयोभ्यः कीर्तयेद् अन्यथैकलः[२]।।
अतिसुन्दररूपाणि लीलाधामानि संस्मरेत्[३]।
पादसेवा हरेः कार्या सर्वसम्पन्निकेतनैः[४]।।
अर्चनं प्रत्यहं तस्य विधिना नियमेन च[५]।
वन्दनं चरणाम्भोजे तस्य भावनयाखिले[६]।।
दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम्[७]।
एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत्।।
(साधनदीपिका.२४-३०)

(७)

तत्रादौ शरणं यातः किं कुर्यादिति चोच्यते।
श्रीमदाचार्यमार्गीयगुरुणा शरणं गतः।।९।।
स्वामित्वेन हरिं स्वं तु सेवकत्वेन भावयेत्।
लौकिकं वैदिकं वापि विदध्याद् भक्तिसिद्धये।।१०।।
नान्यमार्गाश्रयो नैव देशान्तरसमाश्रयः।

नैव तीर्थाश्रयो नैवाभिमतेः कर्तृताश्रयः।।११।।
नैव मन्त्रसमाधारो न च कर्मादिकाश्रयः।
सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं धर्मत्वेन हरौ दृशि।।१२।।
विवेकादेरभावेन दैन्येनार्थत्वभावनम्।
स्वकामपूरणार्थाय पूर्णानन्दत्ववेदनम्।।१३।।
न साधनैर्भवेन्मोक्षो हरिरेव तदात्मकः।
तदीयतायाः संपत्ता (?) मुक्तत्वेनैव चिन्तनम्।।१४।।
अतएव निराकाङ्क्षा मोक्षतः कृष्णसेवकाः।
देशादिसाधनं कृष्णः पुरुषार्थश्चतुर्विधः।।१५।।
एवं मनसि सततं चिन्तनीयं प्रयत्नतः।
प्रायश्चित्तादिषु मतिर्न कार्या शरणं व्रजेत्।।१६।।
उपस्थितेषु दोषेषु सर्वेष्वथ विशेषतः।।
सुशक्येष्वप्यशक्येषु हरेर्गतिमथ स्मरेत्।।१७।।
अन्याश्रयो नैव कार्यो नैवान्यत्र स्वतो व्रजेत्।
प्रार्थना नैव कुत्रापि कर्तव्या भगवत्यपि।।१८।।
अविश्वासो न कर्तव्यो ब्रह्मास्त्रस्य निदर्शनात्।
लौकिके वैदिके वापि कार्ये सङ्गं विवर्जयेत्।।१९।।
यथाकथञ्चित् कर्तव्ये भारवत्तत्र भावनम्।
सर्वत्र ममतां त्यक्त्वा सर्वं कार्यं प्रसाधयेत्।।२०।।
लोभं च हृदये नैव कुर्यात्, प्राप्तं हि सेवयेत्।
शरणस्यापि ये धर्मास्तत्सिद्धौ शरणं व्रजेत्।२१।।
विवेकधैर्येऽपि सदा श्रीकृष्णाश्रयपोषके।
तद्ग्रन्थेभ्योऽवगत्यापि प्रयत्नाद् हृदि भावयेत्।।२२।।
एवम् आश्रितधर्मोऽयं संक्षेपेण निरूपितः।
आश्रित्य वल्लभाचार्यन् बुद्धवैवं कृष्णमाश्रयेत्।।२३।।
(श्रीहरि.श.स.से.निरू.९-२३).

।।अमृतवचनावली।।

(१) जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो; याकेलिए गोअन्कों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो. यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे.

(महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, १३)

(२) धनादिकी कामनाकी पूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको कर्ममार्गीय समझना चाहिये. अपनी आजीविका चलानेकेलिये धनोपार्जनके रूपमें जो हैं उनको तो खेती-बाड़ी जैसे व्यवसायकी तरह 'लौकिक कर्म' ही कहना चहिये (धर्म-भक्ति सर्वथा नहीं). मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलका उपयोग करनेवालेको उसके मलकी सफाईसे अधिक गंगास्नानका फल मिलता नहीं है. इतना ही नहीं, ध्यान देनेलायक बात यह है कि गंगा जैसी पवित्र नदिके जलका ऐसा घृणित कार्यकेलिये उपयोग करनेके कारण वह पापी बनता है. इसी तरह प्रभुकी सेवा-कथाके माध्यमसे पैसे कमानेवालेको सेवा-कथाका कोई भी (धार्मिक-भक्तिमार्गीय) फल तो प्राप्त नहीं ही होता है प्रत्युत ऐसे अधम आचरणके कारण वह पापका ही भागी होता है.

(श्रविट्ठलनाथजी गुसांईजी, *भक्तिहंस*)

(३) अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी. और उत्सवादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्राभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

(श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण, *२४वचनामृत*)

(४) जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, ओर नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो; ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो ''तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो!'' या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई - आपुनी सेवा न भई - राजभोगको नागा माने. धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पायेह्वदुःखक्लेश न पाये.

*(**श्रीहरिराय महाप्रभु,** भावप्रकाश ८४वैष्णवनकी वार्ता-७६)*

(५) पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोई दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अहंकार तो बढ़े ही है परन्तु ऐसी खरीदी भई सेवासु चित्त भगवान्में कभी चोंट नहीं सके है. भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिकके रूपमें धनादिक लिये जावेपे तो, जैसे पंडा-पुरोहितन्कुं यज्ञ-यागादिको फल नहीं मिले है परन्तु यजमानन्कुं ही मिले है, वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निष्फल बन जाय हे. शमा: यजमान जैसे दक्षिणा दे के पुरोहितन्के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे है वैसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्में वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरह: अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई है? समाधान: या शमाको ये समाधान जाननो जो कर्ममार्गमें ऐसो करनो विहित होवेसुं पुरोहितन्सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध नहीं होयवेसूं, कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकारसूं (निज घरमें निज परिजनन्के सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही) भगवत्सेवा करनी चहिये.

*(**गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण,** सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिप्रकाश-२)*

(६) ''**अत्र गृहस्थानविधानेन, स्वगृहाधिष्ठत-स्वरूप-भजन-परित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति, इति सूचितं भवति अर्थात्**'' यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोड के कोइ दूसरी जगह (अर्थात् *हवेलीन्में, जेसे आजकल, भेंट-सामग्री चढा के नित्य या मनोरथन की झांकी कर लेनो वैष्णवन्ने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो हे वेसे) भगवत्सेवा करवेवालेन्कुं*

कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके हे.

(**श्री वल्लभात्मज–श्रीबालकृष्णजी** *: भक्तिवर्धिनीव्याख्या २)*

(७) जो श्रीवल्लभकुल हैं वे तो आपुने सेव्यस्वरूपपें कैसो स्नेह राखत हैं जो एक ठौर द्रव्यकी ढेरी करो और दूसरी ठौर श्रीठाकुरजीकों पधरावो तो श्रीवल्लभकुल वा द्रव्यकी ओर देखेंगे हु नाहीं; अरु श्रीठाकुरजीकों अतिस्नेहसों पधराय लेंगे. परि जो या कलिको जीव है वाकुं तो द्रव्य बहुत प्रिय है. तासों वो तो श्रीठाकुरजी सन्मुख हु नाहीं देखेगो अरु केवल वैभवकुं देखेगो अरु मोहित होय जायेगो.

(**नि.ली.गो.श्रीमट्टुजी महाराज,** *३२ वचनामृत; वचनामृत-५)*

*(८) लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू भेंट–सामग्री मिलि जाये ऐसे लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो ‘पाखंडी’ ओर ‘देवलक’ कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे ऐसी रीतिसूं “**मेरो लौकिक सिद्ध होय**” ऐसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो ‘लोकार्थी’ कह्यो जाय है.*

(**नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी महाराज,** *सिद्धान्तमुक्तावलि–टीका श्लोक १६–१७)*

(९) श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद ! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल–अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्‌की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे. सेवा आदि विषयन्‌में पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो; ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो, जेसी कि परम्परा आज भी हे ही, ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजन्‌के समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे.

(**गोस्वामी तिलकायत नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज, श्रीनाथद्वारा,** *डेक्लेरेशन, मिति भाद्रशुक्ला पञ्चमी, वि.सं.१९४८=ता.५–९–१८९३)*

(१०) महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिन्‌सूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो नहीं जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण–वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे. महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

(**नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी महाराज, अमरेली,** *श्रीवागीशलालजीके आममुखत्यार : “अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक” मुद्देपर सन् १९०९–१० में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी)*

(११) जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्तकुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यर्थाथ उपदेश लोगन्‌कुं देते हते; और मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणन्‌सूं हमने बहोत हद् तक छोड़ दिये हें, या कारणसूं अधिकांश लोगन्‌में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार जानकारी बच गयी हे.

(**पञ्चमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी,** *कामवन, मुंबईके वैष्णवनकुं लिखित पत्र : ‘आश्रय’ अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित)*

(१२) हमारा प्रमुख सिद्धान्त है ‘असमर्पित त्याग’. उत्तम उपाय तो यही है कि घरमें जो भी रसोई बने वह प्रभुको भोग धरके बादमें ही महाप्रसाद लिया जाय. ... जहां तक असमर्पितका त्याग नहीं होगा वहां तक बुद्धि अच्छी नहीं हो सकती. सानुभावता कब सिद्ध हो सकती है ? जब हमारी बुद्धि निर्मल हो. ... आज हम हीरे (घरमें बिराजते सेव्य प्रभु) को परख नहीं सकते. सच्चे हीरेको जौहरी ही परख सकता है. स्थिति क्या है कि हम जूठे हीरेको सच्चा मानकर उसीके पीछे (हवेली–मन्दिरोंमें) दौड़ लगा रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीने तो निधिरूप सच्चा हीरा हमको दिया है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि “दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमीश्वरम्”. भगवान्‌को पहचाननेकेलिये तो दिव्यता प्राप्त होनी चाहिये. दिव्यता ही आत्मबल है. ... अतः मेरा तो आप लोगोंसे

साग्रह अनुरोध है कि आत्मबल प्राप्त करनेकेलिये अपना कुछ दैनिक नियम बनाईये. षोडशग्रन्थके पाठका नियम लीजीये.

(**द्वितीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज,** इन्दौर-नाथद्वारा, श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत ७, पृष्ठ १२४)

(१३) **वकील :** यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें, वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये; और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो ''**मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे**'' ऐसे आपको कहनो हे ?

पू.पा.महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्केलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवेकी कोई प्रक्रिया नहीं हे. और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकुं साम्प्रदायिक मन्दिर नहीं कह्यो जा सके.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, सुरत** ''नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक'' विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी)

(१४)...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; और वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाय है. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वहां जो सन्मुखभेंट आवे हे, वाकुं कीर्तनीया-महावनिया ले जावे हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरो कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित है... हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरें हैं वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं धरें हैं फिर भी वो आभूषणन्में वापरी जावे है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवेमें बहोत अनाचार होवे है. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे...वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे है.

(**नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज, राजनगर,** वचनामृत.४८४-८७)

(१५/क) वैष्णवन्के पास जो भी परम पदार्थ है वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणन्के दिव्य सिद्धान्तन्के ऊपर अटल रहवेपर ही

जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगवशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन आज बन्द भये हैं यासुं अब वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे है. मोकुं तो श्रद्धा है के या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो है.

(१५/ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं आगे बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण-दीक्षा' कहें हैं तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन' कहें हैं. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने है तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकार मिले हे. ब्रह्मसम्बन्ध लेवे वालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे... हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के घर 'घर' ही कहलावे हैं ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे है.

(१५/ग) श्रीआचार्यचरणके सिद्धान्तोमें भगवत्सम्बन्ध और भगवत्सेवा को ही प्रधानता दी गयी थी. बादमें, परिलक्षित होता है कि, उसमें भी कुछ अन्तर आ गया. ... श्रीआचार्यचरणके और श्रीप्रभुचरणके सेवक, हम देख सकते हैं कि, सभी प्रकारके हैं. ऐसा नहीं है कि अमुक विशिष्ट व्यक्ति ही भगवत्सेवाकेलिये योग्य होता है और अमुक परिस्थितिमें ही भगवत्सेवा हो सकती हो. ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है. अनेक प्रकारके जीव भगवत्सेवा करते थे. उनमें स्मशानवासी, वेश्या आदिसे लेकर अच्छे विद्वान् ब्राह्मण भी थे. आजके समयमें, मुझे प्रतीत होता है कि, हम उन चरित्रोंको भूल कर पीछेसे मुख्य बन गये ऐसे केवल भावात्मक रूपको ले कर बैठ गये हैं कि जो आज भी वैष्णवोंमें प्रचलित है. ...मैं मानता हूं कि चरित्रोंका विचार करनेमें सिद्धान्तोंकी आवश्यकता होती है.

(**तृतीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज,** कांकरोली, क : श्रीमत्प्रभुचरण प्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन मुंबईके पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्की सभामें

अध्यक्षीय प्रवचन.(१५/ख) : बयान: मूर्तिबा कार्या. सहा. कमि. देवस्थानविभाग खंड उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५ (१५/ग) श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत २० मुं, पृष्ठ १४६,१४९).

(१६) आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे, मन्दिरन्में मात्र द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थन्की जड़ है. ऐसे मन्दिरन्के अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं है. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. ‘‘**करत कृपा निज दैवी जीवनपर**’’ या उक्तिमें ‘निज’ शब्दको प्रयोग कियो गयो है. दैवीजीव कहीं भी हो सके हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम ‘पुष्टि’को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हैं! ... आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम, आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे, वाकुं जिवानो चाहें हैं? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहो हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहमें सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरन्सूं कोई लाभ नहीं है, क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; ओर जहां द्रव्य इकट्ठो होय है वहीं अनर्थ हो जावे है. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप याके कारण ही है.

(**नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज,** मुंबई-मद्रास, ‘वल्लभविज्ञान’ अंक ५-६ वर्ष १९६५)

(१७/क)हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाको पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां (रह गयी) है? केवल मन्दिरन्में दर्शनसूं क्या लाभ है? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है ‘‘**कृष्णसेवा सदा कार्या**’’ . यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमान्में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो के घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य है. तुम अपने घरन्में ठाकुरजीकुं पधराओ और सेवा करो.

(१७/ख) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी है ‘‘**गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः**’’ (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचरण करनो चहिये. गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य है... अतः मेरो तो माननो यही है के आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवन्कुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये और धर्मग्रन्थन्को पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं के मन्दिरन्में जाके...ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होवेवाली बात नहीं है प्रत्युत अपनी प्रणालीको भंग करवेवाली बात है.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी महाराज, दहिसर-मुबई,** क-‘वल्लभविज्ञान’. अंक ५-६ वर्ष १९६५, ख-‘नवप्रकाश’ अंक ८ वर्ष ८)

(१८/क)और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके, अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टन्सूं जो नेग-भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे है. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग अरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो प्रसाद गायन्कुं खवा दियो. ये है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तन्को जा (सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी) प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यन्कुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित है.

(१८/ख)भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाको अंग है, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार-पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने (अपने घरमें) करो...गुरुघरन्में मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध है. ग्रन्थन्के अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

(**नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज,** मुंबई-किशनगढ़, (१८/क)‘‘आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति’’ लेख ‘श्रीवल्लभविज्ञान’ अंक ५-६ वर्ष १९६५ में प्रकाशित वक्तव्य)

(१९/क)जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हैं... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय(दोष) लगे है. जैसे गंगा-जमुना जलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके है, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(१९/ख) तन और वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही है. अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो है के ‘‘**तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा**’’. मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके है. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यवसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे है परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे है. अतएव बजारके भावन्‌की घट-बढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं है... कोई बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके समझ ले है के बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं है क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्त दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें: एक दुकनदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगाके व्यापार शुरु करे, सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रहके जब तन भी व्यापारमें लगावे है तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके ही विचार आते रहे हैं: अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं ह्न कैसे व्यापार बढ़े... अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये.

(पू.पा.गो. श्रीगोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर : (१९/क) ‘सुधाधारा’ पृ.११४. (१९/ख) ‘सुधाबिन्दु’ पृ.७३)

(२०) वल्लभमतमें ये सिद्धान्ततः गलत है ओर ऐसे देवस्धानन्‌के चढावाको प्रसाद भी खायो नहीं जा सके हे, क्योंकि वहां देवलकत्व ही प्रधान है. आजके युगकुं देखते भये जहां न्यास करनो आवश्यक है वहां उपर्युक्त सिद्धान्तन्‌कुं ध्यानमें रख के ही न्यास करनो आवश्यक है, जासूं देवलकवृत्तिसूं बच्चो जा सके. यदि एसी व्यवस्था नहीं की गइ तो देवद्रव्य होवेगो, जाके सेवन करवेसूं आचार्य स्पष्ट कहें हें कि नर्कपात होयगो.

(नि.ली.गोस्वामी श्रीरणछोडाचार्यजी प्रथमेशः ‘‘हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन’’ (दिनाङ्कः २५।२।८१) पृष्ठ. १२)

(२१) क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेवे तकके अधिकारी नहीं हैं. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है. वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार है. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन है... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध है. अपने सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हैं, उनको ही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके है. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावान्‌को उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय है; ओर कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमन्‌सूं विरुद्ध होवेके कारण बन्द कर देनो चहिये.

(**सप्तमगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी,** कामवन, ‘‘श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना, ता.१-२-५६’’)

(२२/क) प्रश्न: ‘देवद्रव्य’ कायकुं कहे हैं? ‘देवद्रव्य’को मतलब, देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्‌देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होवे वाकुं ‘देवद्रव्य’ कहे हैं. याही प्रकार गुरुकुं उद्‌देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं ‘गुरुद्रव्य’ कह्यो जाय है.... मन्दिरन्‌में ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यकुं और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्‌में ‘देवद्रव्य’ कह्यो जा सके है; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही है. याही कारण वैष्णवन्‌कुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेवेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही है.

(२२/ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है. यामें व्यक्तिगत स्वरूप, निजी स्वरूप, की ही बात है; और याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसो नहीं है. मन्दिरको निर्माण भी घर जैसो होवे

है. कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे है. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे है तथा वाकुं 'मन्दिर' ही कहे है...

(**नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय,** सुरत,(२२/क)'वैष्णववाणी' अंक ३,वर्ष मार्च १९८३.(२२/ख)'गुजरात समाचार' अंक २५-५-९३में प्रकाशित)

(२३) ...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन्को भगवान्में विनियोग होवे है... मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हैं. सेवा अपनकुं अपने घरन्में करनी है.

('वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष १९६५)

(२४) प्रश्न:अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर' न कहके 'हवेली' क्यों कह्यो जावे है?

उत्तर:सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर' शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेककु व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय है. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माता को पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलीन्की तरह जैसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द, रूढ़ हो गयो होवेसूं, प्रयोग कियो जावे है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जैसो वो मन्दिर नहीं है.

(**पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी महाराज,** सुरत, 'पुष्टिने शीतल छांयडे' पृ.सं.१५७-१५८)

(२५) श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरन्की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु यामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती:प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोई मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे है. वाकुं मन्दिरकी आरतीके घंटानाद सुनाई पड़े हैं. सेवा करवेकुं बैठी भई वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती ऐसेमें आरतीके घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके है क्या? यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय है.

(**पू.पा.गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी,** वडोदरा 'वैष्णवपरिवार' अंक जून ९०)

(२६) ''अति धन्यवादार्ह हे कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तन्कूं कोर्टमें समझाये''-''हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो, तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयार हें''.

(पू.पा.गो.चि.श्रीहरिरायजी(जामनगर)के सिद्धान्तदिष्ठ पितृचरण नि.ली.गो.-**श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज** : गो.श्याम मनोहरजी(पार्ला-किशनगढ) कुं भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रन्में).

(२७)

गो.श्रीहरिरायजी : जरा ध्यानसे सुनें ... ''तत्र अयम् अर्थः. लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि'' स्पष्ट सुनें, ''सम्पादकत्वात्''... लाभ-पूजार्थ यत्न करता है जो सेवा करके, जब वो लाभ-पूजार्थ प्रयत्न करता है तो वो उपधर्म हुवा; देवलकत्व आदि जो दोष हैं वो उसमें प्रविष्ट होंगे. ...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् यह खास ध्यानमें रखना कि जिस स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा की गयी हो उस स्वरूपकी भी लाभ अथवा पूजा केलिये यदि सेवा की जाती है तो सेवा करनावाला देवलक(पापी) बन रहा है...

गो.श्रीहरिरायजी : और उपधर्मत्व होता है ... और ये निषिद्ध है. ...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : इस स्थितिमें गुरु अपने लाभ अथवा पूजा केलिये

शिष्यसे कुछ भी ठाकुरजीकेलिये मांगता है तो वह ... शास्त्रनिषिद्ध होनेसे ... दान होनेसे, देवद्रव्य होनेसे उपयोग करने योग्य नहीं होता है.

गो.श्रीहरिरायजी : हां. बिलकुल. ... ये तो बिलकुल स्पष्ट है. ... 'स्ववृत्तिवाद'से भी स्पष्ट होता है.

('पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा विस्तृत विवरण' पृष्ठ १६४, १९३)

(२८) मै तो एक ही बात कहनी चाहूंगो कि समाजके भीतर और अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो है कि गुजरातके एक गांवमें...अपने सम्प्रदायके ही दो मन्दिर हैं और मन्दिरन्की दीवार भी एक ही है; परन्तु...इतनो लोकार्थित्व समाजमें उत्पन्न हो गया है... सवेरो होते ही चन्द्रमाजीवाले वैष्णव बालकृष्णलालको जो मेवा होवे है वो चन्द्रमाजीमें ले जावे हैं और बालकृष्णजीवाले जो वैष्णव होवे हैं वो चन्द्रमाजीको जो मेवा और प्रसाद होवे है वाकु बालकृष्णलालजीमें ले आवे हैं ! ऐसी जबरदस्त होंसातोंसी वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है के मानों एक-दूसरेके संग स्पर्धा करते होवें. ऐसो ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके है ! ... ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फ़ज़ीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे है. भागवतमें भी लिख्यो है के ''गुर्जरे जीर्णतां गताः'' भक्ति गुजरातमें आके बूढ़ी हो गई है. अन्धानुकरण बढ़ा हो तो वह गुजरातमें बढ़ा है. ... अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा ... और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तों के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता है तो... गुजरातमें.

(**पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी**, सुरत, ''पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, दि.१०-१३ जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई, विस्तृतविवरण'' पृ.३१७-३१८)

(२९) पुष्टिमार्ग गुप्त है, दिखावाकेलिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के बीच आन्तरिक सम्बन्ध दृढ करवेको मार्ग है... दोनोंके संबंध ऐसे होने चहिये कि कोई तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है याकुं दूसरे कोई व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या है ? प्रशंसा पावेकुं ? स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं ? ये तो सभी कुछ बाधक है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी**, अमरेली-कांदीवली, 'पुष्टिनवनीत' पृ.१२)

(३०) प्रश्न : आज चल रहे जो डिस्प्युट् हैं वामें कितनेक सिद्धान्त चर्चित हो रहे हैं जैसे कि नये मन्दिर नहीं खोलने, ट्रस्ट मन्दिर नहीं बनाने, ठाकुरजीके नामपे द्रव्य नहीं लेनो, ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने, तथा बिना समजे-सोचे कोईकु ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देनो. इन सब विषयमें आपको अभिमत क्या है ?

उत्तर : देखो मन्दिरकी जहां तक स्थिति है तो ये बात सत्य है के पुष्टिमार्गीय प्रकारसुं मन्दिर तो मात्र एक ही है; ओर सब घरकी स्थिति हती. ...आज मन्दिर जितने हैं अथवा जिन स्थानन्कुं अपन मन्दिर समझे हैं वो स्थान...वाकु अपन मर्यादापुष्टि मन्दिर कह सके हैं, पुष्टिमन्दिर नहीं. पुष्टिको प्रकार तो मात्र गृहसेवामें ही है.

('आचार्यश्रीवल्लभ', ऑगस्ट१९९४, अंक५, पुष्टिमार्ग-वर्तमान प्रश्न-उत्तर ४, पृ.७)

(३१) श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के दुनियामें भटकते रहेते अपने मन-चित्त(कुं) श्रीठाकुरजीके सङ्ग जोडिके विनकी तनु-वित्तजा सेवा करनी. तनुवित्तकी सेवा अर्थात् स्वयं उपार्जित अपने धनसों, अपने ही घरमें श्रीठाकुरजीकी अपने ही शरीरसों सेवा करनी सो.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी**, वडोदरा-कांकरोली, 'वल्लभीयचेतना', ऑक्टोबर१५ २००३, पृ.-४)

(३२) चित्त भगवत्प्रेममें परिपूर्ण होइ जाय, पूर्णतः भगवान्में लगि जाय, तन्मय अरु तल्लीन होइ जाय है तब परासेवा होत है. याकों मानसी सेवा कह्यो जाय है. याके सङ्ग मनुष्यकों शरीरसों हु सेवा करनी चहिये. ... तनुजा सेवासों शरीरकी शुद्धि होत है. अहन्ता-अहंपनेंको नाश होत है. धनसों करी जाती सेवा 'वित्तजा'सेवा है. वासों ममता-मेरोपनेंको नाश होत है. अहन्ता अरु ममता एक-दूसरेके सङ्ग जुडे भये रहत हैं तासों तनुजा अरु वित्तजा सेवा एकसङ्ग करनी चहिये. यामें प्रधानता तनुजा सेवाकी है. केवल धन दे देवेसों सेवा होत नाहीं है. वासों तो (चित्तमें)राजसी वृत्ति होत है.

(**षष्ठगृहाधीश पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी**, वडोदरा, श्रीमद्भगवद्गीता पुष्टि-दर्शन, पृ.१२५)

(३३)आज फेरि वो समय आयो है. वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतन्‌कुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही ‘सुज्ञजन’ श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत अर्थ करि रहे हैं, लोगन्‌कूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं, दैवीजीवन्‌के सङ्ग घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यन्‌ने एक ‘संवादस्थापकमण्डल’की स्थापना करीके मुम्बईमें ... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो. ... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते. २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावन्‌ने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के ‘सिद्धान्तवचनावली’के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती. ... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेन्‌ने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके सङ्ग विनने करे भावानुवादके मुद्दान्‌पे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती. ... समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दान्‌की स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुत: एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दान्‌के विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके सङ्ग सहमत होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें. दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनो न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है, सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (= भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है. इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषको उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्‌को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्‌को ही भगवद् उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं. श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों ‘दत्तापहार’को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है. तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसोंह्नश्री-महाप्रभुजीके ग्रन्थन्‌सों ही सर्व निर्णय होइ सकत है, अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(**“संयुक्तघोषणापत्र : अमदावाद”, मिति फाल्गुन सुदि ७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२,** *देखें : पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, संक्षिप्तविवरण, १९९३*)

हस्ताक्षर:

नि.ली.गो. श्रीव्रजरायजी-श्रीनटवरगोपालजी महाराज *(अहमदाबाद)*
पू.पा.गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी महाराज *(अहमदाबाद)*
च.पी.पू.पा.गो.श्रीदेवकीनन्दनजी *(गोकुल)*
पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज *(अहमदाबाद-कडी)*
पू.पा.गो.श्रीराजेशकुमारजी महाराज *(अहमदाबाद-कडी)*
पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज *(अहमदाबाद-कडी)*
पू.पा.गो.श्रीजयदेवलालजी *(कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)*
पू.पा.गो.श्रीमथुरेशजी *(कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)*
पू.पा.गो.श्रीकन्हैयालालजी *(कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)*
पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी *(कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)*

(३४) तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा एक ही व्यक्ति करे तब कहीं जाकर वह मानसीको सिद्ध करती है. केवल तनुजा करली या केवल वित्तजा करली तो अहन्ता-ममता दूर नहीं होगी. ... कैसे ? मैं आपको एक उदाहरण देता हूं. ... जो घरसेवा करते हैं उनकेलिये तो को प्रश्न नहीं है. लेकिन यदि को वित्तजा सेवा करेगा तो समझ लीजीये कि उसने मन्दिरमें भेंट दी. मनोरथ किया. उसकी आप

रसीद लेंगे. ... तब आप कहेंगे ''मैने सेवा लिखायी है''. आप कहते हैं ''मैने सेवा लिखायी है'' तब अहन्ता कहां दूर हु ? अब आप मेहताजीसे क्या मांगोगे ? ''ये मेरी रसीद है, मेरा प्रसाद लाओ''. तो देखीये, अहन्ता-ममतामें हम और बंध गये. तो ऐसी सेवा संसारको दूर नहीं करेगी, संसारमें बांधेगी. .... केवल यदि हम वित्तजा करते हैं तो हमारे अहंकारको बढाते हैं. और अहन्ता दूर न होगी, ममता दूर न होगी तो मानसी कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि सभी बन्धनका मूल अहन्ता-ममता ही है.

(**पू.पा.गो.श्रीद्वारकेशलालजी महाराज**, कामवन-सुरत, सिद्धान्तमुक्तावली प्रवचन, भरूच, जनवरी २००५)

(३५) ''अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे'' व्रजाधिपका सेवन करनेवाले हम मुक्ति नहीं मांगते हैं. फिर भी पुष्टिमार्गी वैष्णव भागवत सप्ताह बैठाकर अपने पितृओंको मोक्षके मार्गपर भेजते हैं! पितृमोक्षार्थ भागवत सप्ताह! को एकसो आठ! को एक हजार आठ! ...अपने पितृ तो गोलोकमें जाते हैं! उनको वापिस मोक्षमें क्यों भेजते हो ? ...भागवत सप्ताह पूरी हो जानेके बाद माला पहेरामणी (सौराष्ट्रकी एक वैष्णव परम्परा) की जाती है और कहते हैं कि अब गोलोक धाम ...अब गोलोक धाममें भेजना है! मतलब यह हुवा कि पितृओंको यहां से वहां सिर्फ धक्के हि खिलवाने हैं! हमारा कोई ध्येय ही निश्चित नहीं है!! हमने श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थोंको खोला नहीं है उसका यह दुष्परिणाम है कि जिसे हमारे पूर्वजोंको भुगतना पड़ रहा है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी**, जुनागढ, श्रीयमुनाष्टक प्रवचन, राजकोट, ०६)

(३६) ...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

हस्ताक्षर कर्ता :

गो. शरद् अनिरुद्धजी (मांडवी-हालोल)
गो. किशोरचन्द्र (मांडवी-जुनागढ)
गो. अजयकुमार श्यामसुंदरजी (मद्रास)
गो. मनमोहन (मुंब)
गो. श्यामसुन्दर मुरलीधरजी (बोरीवली)
गो. हरिराय कृष्णजीवनजी (मुंब)
नि.ली.गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंब)
गो. वल्लभलाल श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो. हरिराय श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर)

नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीषजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर)

गो. व्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)

गो. राजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो. विजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो. योगेश्वर मथुरेश्वरजी (वडोदरा-सुरत)

गो. रघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)

गो. देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल-अमदावाद)

गो. नवनीतलाल श्रीगोविंदलालजी (कामवन-भावनगर)

गो. मुरलीमनोहर श्रीव्रजाधीशजी (दहिसर)

नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी श्रीगोकुलनाथजी (मुंबई-नासिक)

गो. रमेशकुमार श्रीगोपीनाथजी (मुलुंड-नासिक)

गो. कल्याणराय (कन्हैयाबावा) (वीरमगाम-अमदावाद)

गो. योगेशकुमार (मुंबई)

गो. व्रजप्रिय मुरलीधरजी (बोरीवली)

गो. नीरजकुमार श्रीमाधवरायजी (मुंबई-नासिक)

गो. शरदकुमार (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)

गो. चन्द्रगोपाल (चंदुबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)

नि.ली.गो.श्रीनृत्यगोपालजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)

पत्रद्वारा सम्मति :

नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी श्रीगोविंदरायजी (सुरत)

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)

पञ्चमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लभविद्यानगर)

नि.ली.गो.श्रीगोविंदलालजी (कोटा)

गो.श्रीअनिरुद्धलालजी श्रीद्वारकेशलालजी (मांडवी-हालोल)

गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)

गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)

गो.श्रीविट्ठलनाथजी श्रीव्रजभूषणलालजी (चापासेनी-जूनागढ-जामनगर)

गो.श्रीहरिरायजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)

गो.श्रीव्रजरत्नजी श्रीव्रजभूषणलालजी (नडीयाद-जामनगर)

गो.श्रीनवनीतलालजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जूनागढ-जामनगर)

गो.श्रीबालकृष्णजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जेतपुर-जामनगर)

(''महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशज गोस्वामीओंका संयुक्त-घोषणापत्र'' १९८६. पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्त विवरण, पृष्ठ ४९-७८)

''પુષ્ટિ અસ્મિતા''

(ગાન)

અમે એવા રે અમે એવા રે વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે
નિષ્ઠાથી વલ્લભની વાણી અનુસરતા
અમને બહિર્મુખ કહો છો તો તેવા રે,
અમે એવા રે અમે એવા રે
વળી બીજુ જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૧)

મેવા મેળવવા પ્રભુને નથી સેવતા
મેવાથી કરવી પ્રભુસેવા રે
અમે એવા રે અમે એવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૨)

વાડીઓમાં ભક્તિનાં ભવાડા ગોઠવીને
કૃષ્ણવિક્રયનાં ધન નથી લેવા રે,
નથી લેવા રે નથી લેવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૩)

લક્ષ્મીના નાથના નામે ભીખ માંગી
નથી કરવા મનોરથો એવા રે,
અમને એવા રે અમે એવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૪)

દેવનું છે દ્રવ્ય તે પ્રસાદ નથી લેતા
જેઓ લેતા હોય તે વૈષ્ણવો કેવા રે !
તેઓ કેવા રે અમે એવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૫)

ભાગવતથી ભંડોળ ભેગું કરવા
વડીલો તો નથી ધુંધુકારી જેવા રે
તેઓ કેવા રે તમે કેવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૬)

નાણાકીય ભાવો બાંધ્યા સેવા સામગ્રીના
પુષ્ટિપ્રભુને નથી ત્યાં લેવા દેવા રે.
લેવા દેવા રે અમે એવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૭)

ગૂઢ રસભાવરૂપ ઘરમાં જ સેવ્ય (પ્રભુ)
નથી જાહેર કરવાં જેવા રે
તે તો એવા રે તે તો એવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કરો તેવા રે. (૮)

પોતાના તનથી ને પોતાના ધનથી
ઘરમાં કરવી છે કૃષ્ણસેવા રે,
કૃષ્ણસેવા રે અમે એવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૯)

વલ્લભની વાણી પુષ્ટિજીવો કેમ વીસરે,
અમને પડયા નથી એવા કાંઇ હેવા રે,
જેવા તેવા રે અમે એવા રે
વળી તમે જે કાંઇ કહો તેવા રે. (૧૦)

''એક પુષ્ટિમાર્ગી''

।।श्रीहरिः।।

:: पुष्टिसिद्धान्त–चर्चासभाका संक्षिप्त वृत्त ::

* आयोजकमण्डल *

:: १ :: गो. श्रीव्रजप्रियजी मुरलीधरजी (मुंबई)
:: २ :: गो.श्रीनीरजकुमारजी माधवरायजी (मुंबई)
:: ३ :: गो.चि.श्रीमनोजकुमारजी नृत्यगोपालजी (मुंबई)
:: ४ :: गो.चि.श्रीयोगेश रघुनाथलालजी (मुंबई)
:: ५ :: गो.चि.श्रीशरद अनिरुद्धलालजी (मांडवी–हालोल–मुंबई)
:: ६ :: गो.चि.श्रीपंकज चिमनलालजी (मांडवी–गोकुल)
:: ७ :: गो.चि.श्रीपीयूष किशोरचन्द्रजी (मांडवी–जूनागढ–मुंबई)
:: ८ :: गो.चि.श्रीगोपेशकुमारजी मुरलीमनोहरजी (मुबंई)
:: ९ :: गो.चि.श्रीभूषण चिमनलालजी (मांडवी–गोकुल)
:: १० :: गो.चि.श्रीविट्ठल देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल–अहमदाबाद)
:: ११ :: गो.चि.श्री.मिलनकुमारजी लालमणिजी (जतीपुरा–कोटा–मुंबई)
:: १२ :: गो.चि.श्रीशरदकुमारजी लालमणिजी (जतीपुरा–कोटा–मुंबई)

द्वारा सम्प्रदायके प्राणोपम और विवादग्रस्त मुद्दान्के ऊपर; ता.१०–११–१२–१३ जान्युआरी–९२ के दिनोमें विश्वकर्माबाग, बजाजरोड, विलेपार्ला (पश्चिम), मुंबई–५७, स्थलमें आयोजित चर्चासभामें अतिशय औदार्य स्वधर्म–निष्ठा तथा निर्भीक–साहस से उपस्थित रहेके चर्चासभाकी शोभामें अभिवृद्धि करनेवाले उपस्थित आदरणीय गोस्वामी महानुभावों और शास्त्रीजी की नामावली –

:: १ :: गो.श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ–मुंबई)
:: २ :: गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पुना–सुरत)
:: ३ :: गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम–अहमदाबाद)
:: ४ :: गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जूनागढ–मुंबई)
:: ५ :: गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
:: ६ :: गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई–उदयपुर)

:: ७ :: गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुबंई)
:: ८ :: गो.श्रीगो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)
:: ९ :: गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोडलालजी (पोरबन्दर)
:: १० :: गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसुदनलालजी (वडोदरा)
:: ११ :: गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजी (कलकत्ता)
:: १२ :: गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल- अहमदाबाद)
:: १३ :: गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
:: १४ :: गो.चि.श्रीद्वारिकेशजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
:: १५ :: गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमजी व्रजजीवनजी (अमरेली-मुंबई)
:: १६ :: गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)
:: १७ :: गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायजी (सुरत)
:: १८ :: गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
:: १९ :: गो.चि.श्रीमधुसूदनजी कृष्णचन्द्रजी (मद्रास)
:: २० :: गो.श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई-गोकुल)
:: २१ :: गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
:: २२ :: गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा-पारबन्दर)
:: २३ :: गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कडी-अहमदाबाद)
:: २४ :: गो.श्रीवल्लभरायजी गोविन्दरायजी (सुरत)
:: २५ :: गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
:: २६ :: गो.चि.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल-अहमदाबाद)
:: २७ :: गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (गोंडल-कडी)
:: २८ :: गो.श्रीविट्ठलनाथ-लालमणि-जी रणछोडलालजी (जतिपुरा-कोटा-मुंबई)
:: २९ :: गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली-मुंबई)
:: ३० :: गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट-कामवन)
:: ३१ :: गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अहमदाबाद)

:: ३२ :: गो.श्रीशरदकुमार-श्रीशीलुबावाजी मुरलीधरजी (वेरावल-पोरबन्दर)
:: ३३ :: गो.श्रीश्याम मनोहर दीक्षितजी (किशनगढ-मुबंई)
:: ३४ :: गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)
:: ३५ :: गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर).

:: १ :: श्रीजयवल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
:: २ :: श्रीनिरञ्जनशास्त्रीजी (उमरेठ-मुंबई)
:: ३ :: श्रीवसन्तशास्त्रीजी (मथुरा)
:: ४ :: श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा-वीसनगर)

गोस्वामी श्याममनोहरजी (किशनगढ-मुबंई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावली के लिए समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवादके लिए अपनी सहमति दर्शानेवाले महानुभावन्की नामावली –

:: १ :: गो.श्रीअनिरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी* (मांडवी-हालोल)
:: २ :: गो.चि.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)
:: ३ :: गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी + (जूनागढ-मुंबई)
:: ४ :: गो.चि.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (मुंबई-उदयपुर)
:: ५ :: गो.श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी (मुंबई-कामवन)
:: ६ :: गो.श्रीगिरिधरलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-विद्यानगर)
:: ७ :: गो.चि.श्रीगोपिकालंकारजी वल्लभलालजी (राजकोट)
:: ८ :: गो.चि.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी गोकुलनाथजी (गोकुल-अहमदाबाद)
:: ९ :: गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
:: १० :: गो.श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-सुरत)
:: ११ :: गो.श्रीनवनीतलालजी गोविन्दरायजी** (कामवन-भावनगर)
:: १२ :: गो.श्रीमथुरेश्वरजी चन्द्रगोपालजी* (वीरमगाम-अहमदाबाद)
:: १३ :: गो.श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी* (वेरावल)
:: १४ :: गो.श्रीरघुनाथलालजी रमणलालजी (मुंबई-गोकुल)

::१५:: गो.चि.श्रीरघुनाथजी रमेशचन्द्रजी (मुंबई)
::१६:: गो.चि.श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (मांडवी–राजकोट)
::१७:: गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (मथुरा–पोरबन्दर)
::१८:: गो.श्रीराजेशकुमारजी गोविन्दरायजी (कडी–अहमदाबाद)
::१९:: गो.चि.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन–विद्यानगर)
::२०:: गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (कडी–अहमदाबाद)
::२१:: गो.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल–अहमदावाद)
::२२:: गो.श्रीविजयकुमारजी गोविन्दरायजी (गोंडल–कडी)
::२३:: गो.श्रीविट्ठलनाथ–लालमणि–जी रणछोडलालजी (जतिपुरा–कोटा–मुंबई)
::२४:: गो.श्रीव्रजरायजी रणछोडलालजी* (अहमदावाद)
::२५:: गो.श्रीव्रजेशकुमारजी गोविन्दरायजी* (अहमदावाद–कडी)
::२६:: गो.श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम–अहमदावाद)
::२७:: गो.श्रीशरदकुमार–शीलुबावा–जी मुरलीधरजी (वेरावल–पोरबन्दर)
::२०:: गो.श्रीश्यामसुन्दरजी मुरलीधरजी (मुंबई)

::१:: श्रीनवनीतप्रियशास्त्रीजी* (नडियाद)
::२:: श्रीवसन्तशास्त्रीजी (मथुरा)
::३:: श्रीव्रजेशशास्त्रीजी (महेसाणा–वीसनगर)

गोस्वामी श्याममनोहरजी (किशनगढ–मुबंई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावली के लिए और उसके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवादके लिए अपनी असहमति दर्शानेवाले महानुभावन्‌की नामावली –

::१:: गो.श्रीगोपाललालजी पुरुषोत्तमलालजी* (कोटा)
::२:: गो.चि.श्रीमथुरेश्वरजी मधुसूदनजी (वडोदरा)
::३:: गो.श्रीवल्लभलालजी गोविन्दरायजी (सुरत)
::४:: गो.श्रीविनयकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)

::५:: गो.श्रीव्रजरत्नलालजी वेंकटेशजी* (सुरत)
::६:: गो.श्रीव्रजरमणलालजी दामोदरलालजी* (मथुरा)
::७:: गो.श्रीशरदकुमारजी गोपाललालजी* (कोटा)
::८:: गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी (जामनगर).

गोस्वामी श्याममनोहरजी (किशनगढ–मुबंई) द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तवचनावली के लिए और उसके समीक्षार्थ प्रस्तावित भावानुवादके लिए सभामें मौन रखनेवाले महानुभावन्‌की नामावली –

::१:: गो.श्रीउत्तमश्लोकजी दीक्षितजी (किशनगढ–मुंबई)
::२:: गो.श्रीकल्याणरायजी गोविन्दरायजी (पूना–सुरत)
::३:: गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी कृष्णजीवनजी (मुंबई)
::४:: गो.श्रीगोविन्दरायजी रणछोडलालजी (पोरबन्दर)
::५:: गो.चि.श्रीचन्द्रगोपालजी मधुसूदनलालजी (वडोदरा)
::६:: गो.श्रीत्रिलोकीभूषणजी त्रिकमरायजी (कोटा–कलकत्ता)
::७:: गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
::८:: गो.श्रीपुरुषोत्तजी व्रजजीवनजी (अमरेली–मुंबई)
::९:: गो.चि.श्रीप्रशान्तकुमारजी राजकुमारजी (मुंबई)
::१०:: गो.श्रीबालकृष्णजी गोविन्दरायजी (सुरत)
::११:: गो.श्रीव्रजजीवनजी पुरुषोत्तमलालजी (अमरेली–मुंबई)
::१२:: गो.चि.श्रीव्रजेशकुमारजी घनश्यामलालजी (राजकोट–कामवन)

::१:: श्रीजयवल्लभशास्त्रीजी (मुंबई)
::२:: श्रीनिरञ्जनशास्त्रीजी (उमरेठ–मुंबई)

(संवादस्थापक–मण्डलके सौजन्यसे).

(*) पत्रद्वारा प्राप्त.

(**) हमारे विचारसे इन वचनन्को जो अनुवाद श्रीश्याममनोहरजीने कियो हे वह सही है एवं या अनुवादसूं जहां कहीं व्यक्तिगत उल्लेखकी गन्ध हे वा स्थलकूं छोड़के, हम सहमत हैं.